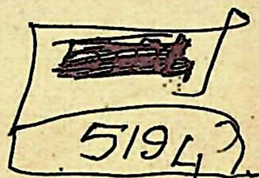
॥ श्रीः ॥

श्री मिलापचन्द्र कटारिया जैन ग्रन्थमाला

पुष्प नं० २





शासनदेव-पूजारहस्य



लेखक :

श्री रतनलाल कटारिया

केकड़ी (अजमेर)

प्रकाशिका :

सन्मार्ग प्रचार समिति
केकड़ी (राजस्थान)

पर्यूषण पर्व : २५०१ वीर निर्वाण रजतशती महोत्सव वर्ष

प्रथम संस्करण :
प्रति १०००



मूल्य
२) रु.

सितंबर सन् १९७५ भाद्रपद २०३२.वि०

मुद्रक :
प्रिन्ट हाउस, अजमेर

॥ श्रीः ॥

सन्मार्ग प्रचार समिति



—उद्देश्य—

१. अविवेक पूर्ण थोथे क्रियाकांडों, सम्यक्त्व को मलिन करने वाले मिथ्यात्व के परिपोषक विधि विधानों, अपार महंगाई के युग में धर्म के नाम पर किये जाने वाले अपव्ययों का प्रतिरोध।

२. साधुवेषियों और उनके समर्थक स्वार्थी पण्डितों द्वारा की जाने वाली—सिद्धान्त-विरूद्ध प्ररूपणा, वीतराग धर्म-विमुख पद्धति, समाज को विशृंखल करने वाली कलह विसंवाद जनक प्रवृत्ति, मिथ्या विचार और शिथिलाचार का विरोध।

३. गुरूडमवाद से मुक्ति दिलाकर जागृति पैदा करने वाले, जिनशासन की प्रभावना करने वाले, वीतराग मार्ग के परिपोषक, समीचीन-धर्म के उद्-बोधक, अहिंसा के प्ररूपक क्रिया कलापों का सम्यक् प्रचार।

— नियम —

१. वितंडावाद कषाय-भावना व्यक्तिगत आक्षेपादि से दूर, शांत शालीन पद्धति में विश्वास रखनेवाला, सद्धर्म-प्रचार की भावना रखने वाला, अहिंसा और वीतराग मार्ग की रक्षा के लिये सदैव सन्नद्ध, निर्भीक और स्वस्थ विचारक कोई भी सज्जन इस समिति का सदस्य बन सकता है।

२. सदस्यता फीस ११) रुपये हैं।

—: कार्य :—

फिलहाल समिति ने सन्मार्ग प्रचारार्थ एक ग्रंथमाला प्रारंभ की है जिसका नाम "श्री मिलापचन्द्र कटारिया जैन ग्रंथमाला" रखा गया है।

स्व० पंडित-प्रवर मिलापचन्द्रजी सा० कटारिया, केकड़ी की अनवरत श्रुत-सेवाओं को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये उनकी पुनीत स्मृति में यह ग्रंथमाला स्थापित की गई है।

समिति के सदस्यों को इस ग्रंथमाला के सभी प्रकाशन बिना मूल्य दिये जाने का प्रावधान है।

कोई भी सज्जन समिति के उद्देश्यों के अन्तर्गत किसी भी विषय का कोई ट्रेक्ट छपवाना चाहें तो समिति छपवा देगी।

किसी भी त्यागी और पंडित द्वारा वीतराग मार्ग पर की जाने वाली कैसी भी आपत्ति-शंका-उत्सूत्र प्ररूपणा आदि के निरसन के लिये कभी भी किसी संस्था समाज और व्यक्ति विशेष को आवश्यकता हो तो समिति से सम्पर्क स्थापित कर सकते हैं समिति हर संभव सहयोग के लिये सदैव तैयार रहेगी।

पत्र व्यवहार का पता—

(१) मिश्रीलाल कटारिया, केकड़ी (अजमेर)
(२) पं० दीपचन्द्र पांडिया, केकड़ी (अजमेर)

प्रस्तावना

मिथ्यातमः पटलभेदन कारणाय,
स्वर्गापवर्गपुर मार्ग निबोधनाय ।
तत्तत्वभावन मनाः प्रणमामि नित्यं,
त्रैलोक्य मंगल कराय जिनागमाय ।।

अज्ञान तिमिर व्याप्तिमपाकृत्य यथायथं ।
जिन शासन माहात्म्य प्रकाशः स्या त्प्रभावना ।।

इस निबंध की उपादान सामग्री करीब ७ वर्ष पहिले तैयार करली गई थी किन्तु विसर्जन-श्लोक का "ते मयाभ्यर्चिता भक्त्या" यह पद बाधा उपस्थित कर रहा था अतः तीन वर्ष पूर्व हस्तलिखित ग्रंथों को टटोला गया तो अनेक प्रतियों में इसकी जगह शुद्ध पाठ—"ते जिनाभ्यर्चनं कृत्वा" मिल गया। यह पाठ बिल्कुल संगत होने से इससे सारे निबंध की पूरी एक कड़ी बैठ गई।

जब यह सारी सामग्री मैने स्थानीय विद्वान् पंडित-प्रवर दीपचन्दजी पांड्या को बताई तो वे बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने इस पर एक विस्तृत निबंध शीघ्र तैयार करने की मुझे प्रेरणा की। परन्तु स्वयं चाहते हुए भी मैं समयाभाव से निबंध तैयार नहीं कर पाया तो उन्होंने मुझे बार बार विविध प्रकार से प्रोत्साहित करना प्रारंभ कर दिया।

आखिर काललब्धि आई और यह निबंध जयपुर की "महावीर जयंती स्मारिका १९७५" में प्रकाशित कराया गया।

अभी यह 'सन्मति-संदेश' (मासिक) और जैन-संदेश (साप्ताहिक) में भी क्रमशः प्रकट हो रहा है। यह निबंध अनेक स्वाध्याय शील सज्जनों को काफी पसंद आया है, उन लोगों की भावना रही कि—इसे पुस्तकाकार रूप में प्रकाशित किया जाय तो स्थायी रूप से इसका प्रचार हो सके और लोगों में एतद्‌विषयक जो सम्यग्ज्ञान का अभाव होरहा है उसमें सुधार हो सके तथा इससे जो समाज में कटुता व्याप्त है वह भी समाप्त होकर स्वच्छ वातावरण का निर्माण हो सके।

तदनुसार यह निबंध कुछ परिवर्धन-परिशोधनादि के साथ पुस्तकाकार (ट्रैक्ट) रूप में प्रकाशित किया गया है।

समाज में इस वक्त दो पक्ष हैं। एक पक्ष, जिन, प्रतिष्ठा पाठ और अभिषेकपाठ आदि ग्रन्थों में शासनदेव पूजा का कथन है उन ग्रन्थों को ही अमान्य करता आरहा है, अमान्यता में उसकी युक्ति यह है कि—इन ग्रन्थों में देवगति के देवों की पूजा बताई गई है जो जैनधर्म ही के विरुद्ध है। सभी शास्त्रों में सिर्फ पंचपरमेष्ठी, जिनधर्म—जिन प्रतिमा – जिनालय—जिन वाणी इन नवदेवों को ही पूज्य बताया गया है, देवगति के देवों को कहीं नहीं, उनकी पूजा तो देव-मूढ़ता (मिथ्यात्व) बताई गई है।

इस विषय में दूसरा पक्ष यह कहता है कि—उक्त ग्रन्थों में जैसा लिखा है वैसा ही हम मानते हैं कोई मनोक्त (मन में आया सो) तो मानते नहीं है।

इस तरह दोनों अपने को सही मान रहे हैं और एक दूसरे को परस्पर गलत (मिथ्यात्वी) मान रहे हैं इस से समाज में निरन्तर फूट बढ़ रही है।

हमारे विचार से इस विषय में दोनों पक्ष यथार्थता को छू नहीं पाये हैं इसी से उलझ रहे हैं।

प्रथम पक्ष ग्रन्थकारों का वास्तविक अभिप्राय ज्ञात न हो पाने से तथा शास्त्र–विरुद्ध अर्थ लक्षित होने से उन ग्रन्थों को ही अमान्य कर रहा है तो दूसरा पक्ष अर्थ में स्पष्ट शास्त्र-विरुद्धता होने पर भी उसे आगमभक्ति के लिहाज से ग्रहण कर रहा है।

शास्त्रों में ऐसा नियम है कि—जिस विषय में संदेह हो जाये उसे त्याग देना चाहिये जैसे-भक्ष्य पदार्थ में अगर विष होने का संदेह हो जाये तो उसे त्यागना श्रेयस्कर है। त्यागने वाला चाहे भूखा रह जाये किन्तु खाने वाला तो भयंकर दुःख ही उठाता है इस दृष्टि से प्रथम पक्ष ज्यादा गलत नहीं है किन्तु दूसरा पक्ष तो निश्चित गलत ठहरता है। इसके सिवा दूसरे पक्ष ने सहज विवेक को भी खो दिया है अर्थात्—किसी शास्त्र को मानने के खातिर उसने दूसरे अनेक प्राचीन-अर्वाचीन शास्त्रों का अपलाप कर दिया है—उनकी आज्ञा का लोप कर दिया है—जैसे–कोई एक रुपये के खातिर हजार रुपये बरबाद कर दे।

इस तरह दोनों पक्ष दो अलग अलग किनारों पर स्थित हो गए हैं दोनों ही शास्त्र–समुद्र का अवगाहन नहीं कर पाये हैं।

हमने इस निबंध में समन्वय की दृष्टि से "आर्षं संदधीत न तु विघटयेत्" (आर्ष का संधान (जोड़) करना चाहिये उसका विघटन (तोड़) नहीं करना चाहिये) इस सूत्र को आदर्श रख कर उक्त ग्रन्थों को अप्रमाण करार नहीं करते हुए 'शासनदेव पूजा' के वास्तविक अर्थ को अभिव्यक्त करने का प्रयत्न किया है।

आशा है पाठक इससे समुचित लाभ उठायेंगे और अपने सम्यक्त्व को सुदृढ करेंगे। यह विषय श्वे० साहित्य के साथ भी इसी तरह लागू समझना चाहिये।

विद्वान् समाज के पथ-प्रदर्शक हैं अतः विशेषतया उनसे निवेदन है कि—वे इस निबंध का मनन कर इसे हृदयंगम करते हुए इसका पर्याप्त प्रचार करने की कृपा करें। इसी में हम अपने परिश्रम की सफलता समझेंगे। इस पुस्तक में जिन्होंने किसी भी प्रकार का कुछ भी सहयोग दिया है उन सब के हम हृदय से आभारी हैं।

अगर यह निबंध पाठकों को पसंद आया तो पंचामृताभिषेक को लेकर भी जो समाज में विसंवाद व्याप्त है उसका भी इसी शैली से रहस्य उद्घाटित किया जायेगा अर्थात्—"पंचामृताभिषेक-रहस्य" निबंध जो प्रायः तैयार है उसे समाज के समक्ष प्रस्तुत किया जायेगा।

न वाह्याभ्यंतरे चास्मिन्तपसि द्वादशात्मनि।
न भविष्यति नैवाभूत् स्वाध्यायेन समं तपः॥
श्रीमत्परम गंभीरः स्याद्वादामोघ लांछनं।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं-जिन-शासनम्॥

•

(केकड़ी अजमेर)
आश्विन कृष्णा १
विक्रम सं. २०३२
रविवार

—रतनलाल कटारिया

॥ श्री सन्मतये नमः ॥

विश्व-विश्रुत श्री वीरनिर्वाण रजत शती महोत्सव के शुभावसर पर सन्मार्ग-प्रचारार्थ और जैनसंघ में परस्पर ऐक्य निर्माणार्थ :—

शासनदेव पूजा रहस्य

इति पंचमहा पुरुषाः
प्रणुता जिनधर्मवचन चैत्यानि ।
चैत्यालयाश्च विमलां,
दिशंतु बोधिं बुधजनेष्टाम् ॥१०॥ —चैत्यभक्ति (पूज्यपाद)

अरहंत सिद्ध साहू,
तितयं जिणधम्म वयण पडिमाइ ।
जिणणिलया इदिराए,
णवदेवा दिन्तु मे बोंहि ॥ —भावत्रिभंगी

अर्थात्—अरिहंत, सिद्ध और आचार्य उपाध्याय साधु ये पंच परमेष्ठी (सचेतन) तथा जिनधर्म, जिनवाणी, जिन प्रतिमा, जिनालय ये चार (अचेतन) इस प्रकार नवदेव माने गये हैं ।[1]

---

१. ऐसा ही मेधावीकृत धर्म संग्रह श्रावकाचार में लिखा है, देखो-अध्याय १० (पृष्ठ ३०७) यथार्हदादयः पंच ध्येया धर्मादयस्तथा । चत्वारो-देवताभ्यस्तु नवभ्यो मे नमः सदा ॥१४५॥ चत्वारो देवता एते जिन धर्मो जिनागमः । जिन चैत्यं जिना वास आराध्याः सर्वदोत्तमैः ॥१४६॥

ये सब वीतराग-स्वरूप होने से पूज्य और आराध्य हैं। इनके सिवा न तो और कोई वीतराग-स्वरूप हैं और न पूज्य आराध्य हैं।

इन नवदेवों में कोई भी देवगति (व्यंतर-ज्योतिष्क-भवनवासी कल्पवासी) के देव नहीं हैं जबकि शासनदेव व्यंतर जाति के यक्षदेव हैं जो वीतराग-स्वरूप नहीं हैं, रागी द्वेषी हैं अतः अपूज्य हैं।

पूज्यता संयम से आती है और देवगति में संयम का सर्वथा अभाव है। कुन्दकुन्दाचार्य ने दर्शनपाहुड गाथा २६ में कहा है :—

असंजदं न वंदे गंथविहीणो वि सो ण वंदिज्जो ।। अर्थात्-असंयमी चाहे वह नग्न-दिगंबर ही क्यों न हो वंदनीय नहीं है। तब भला रागी द्वेषी और परिग्रही शासन देव-यक्ष कैसे पूज्य हो सकते हैं ? अर्थात् कदापि नहीं।

जैनधर्म में रागद्वेष और इन्द्रिय विषय कषायों को जीतने वाले ही आराध्य हैं रागीद्वेषी इन्द्रिय विषय कषायों के गुलाम देवगति के देवों को आराध्य-पूज्य वताना जैन संस्कृति के सर्वथा विरुद्ध है।

देवगति के देवों को महान् और पूज्य जैनेतर संप्रदायों में माना गया है उनके शास्त्र इन देवों की विविध स्तुतियों से भरे पड़े हैं जबकि जैनधर्म ने इन देवी देवताओं के जाल से मनुष्य को ऊपर उठा कर उसकी महान् आत्मिक मानवी शक्ति का यानि नर से नारायण तथा जन से जिन वनने की क्षमता का उसे भान कराया है। यही जैन धर्म की अन्य धर्मों से खास विशेषता है। इसी खूबी का लोप करना या इसे विकृत करना एक तरह से जैन धर्म को ही समाप्त करना है।

संसार के समग्र प्राणियों में मनुष्य ही सर्व श्रेष्ठ प्राणी है। जैन धर्म में जहां देवों में ४ गुण तक ही माने हैं वहां मनुष्यों में १४ गुण (गुण-स्थान) तक माने हैं। शास्त्रों में अनेक कथायें आती हैं जिनमें देवताओं द्वारा मनुष्यों की रक्षा और उनकी पूजा का वर्णन पाया जाता है। इस तरह जैनाचार्यों ने देवों को मनुष्यों का सेवक पूजक द्योतित किया है[२] मनुष्यों को देवों का सेवक-पूजक नहीं।

तीर्थंकरों के तपकल्याणक के प्रसंग में शास्त्रों में लिखा है कि भगवान् की पालकी को उठाने में जब देवों और मनुष्यों में विवाद उत्पन्न हो गया तो उसका निर्णय इसी बात पर हुआ कि-'जो भगवान के साथ दीक्षित होने को संयम धारण करने की क्षमता रखते हों एवं भगवान् की जाति के हों यानि मानव जाति के (भूमि-गोचरी) हों वे ही पालकी उठा सकते हैं।" इसमें देव परास्त हो गये और मनुष्यों ने ही सर्व प्रथम पालकी को उठाया।

इससे देवों की अपेक्षा मनुष्य की महत्ता गुरुता और सर्व श्रेष्ठता का परिचय प्राप्त होता है।

जैन धर्म में तो वीतराग जिनदेव को छोड़कर अन्य सभी देवताओं की उपासना को देवमूढता (मिथ्यात्व) बताया है जैसा कि-स्वामी समन्तभद्राचार्य ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में लिखा है।

वरोपलिप्सयाशावान्, रागद्वेषमलीमसाः।
देवता यदुपासीत, देवतामूढमुच्यते ॥२३॥

---

२. चक्रवर्ती पर ३२ यक्ष चंवर ढोरते हैं। देखो तिलोय पण्णत्ती अ. ४ गा. १३८३ चक्कीए चामराणि, जक्खा बत्तीस विक्खिवंति तहा॥ एवं महापुराण सर्ग ३१ श्लोक ११३ आदि

अर्थात्—किसी कामना-प्रयोजन से भी रागीद्वेषी देवों की उपासना करना देवमूढता है।

इसका कारण यह है कि-रागीद्वेषियों की उपासना रागद्वेष (संसार-दुःख) को ही बढ़ाती है जब कि वीतराग की उपासना वीतरागता (मोक्ष-सुख) को प्राप्त कराती है। यही जैन भक्ति का उद्देश्य और सार है।

प्रश्न :—जिस तरह नव देवों में 'जिन वचन' गुणदेव है और उसके अधिष्ठाता देव श्रुतदेव या सरस्वती देवी पूज्य रूप में माने गये हैं उसी तरह 'जिनशासन' के अधिष्ठाता देव इन तथा कथित शासन देवों को मान लिया जाये और उन्हें पूज्य वताया जाये तो क्या बाधा है ?

उत्तर :—ऐसा किसी तरह संभव नहीं, क्योंकि ये शासन देव व्यंतरजाति के यक्ष हैं[३] और इनकी उत्कृष्ट आयु करीव एक पल्योपम मात्र है अतः ये गुण देव नहीं होने से अधिष्ठाता देव भी संभव नहीं हैं जबकि श्रुतदेव देवगति के देव नहीं हैं अतः गुणदेव होने से अधिष्ठाता देव हैं और श्रुत की तरह ही इनकी आयु भी अनादि अनंत है (श्री जैन शासनमनिंद्यमनाद्यनन्तम्, भव्यौघ ताप शमनाय सुधा प्रवाहम् ।।) शासन देवों में २४ यक्ष और २४ यक्षियां हैं जिनके सबके अलग अलग गोमुख चक्रेश्वरी आदि व्यक्ति रूप से संज्ञा नाम हैं जबकि 'जिन वचन' का अधिष्ठाता एक ही श्रुतदेव है और उसका व्यक्ति रूप से संज्ञा वाची नाम न होकर गुणानुरूप नाम है।

३. देखो 'पुण्याश्रव कथाकोश। पृष्ठ ३३५-तावत्सा मृत्वा व्यंतर लोके नेमि-जिन शासन रक्षिका अम्बिकामिधा यक्षी भूत्वा भवप्रत्ययावाधि वोधेन देव गत्युत्पत्तिकारणं विवुध्य............यही वात आशाधर-प्रतिष्ठा-पाठ अ. ३ श्लोक १७६ में वताई है।

शासनदेव यक्षदेव होने से सचेतन हैं। जिस तरह एक म्यान में दो तलवार नहीं समा सकती उसी तरह यक्ष देवत्व में जिन शासनत्व नहीं समा सकता। सचेतन अशुद्ध पदार्थ में स्थापना नहीं हो सकती अतः कोई व्यंतर यक्ष कभी अधिष्ठातादेव (जिनशासन) नहीं बन सकता।

तिलोयपण्णत्ती (दि०) तथा निर्वाणकलिका (श्वे.) प्रभृति ग्रंथों में गोमुख चक्रेश्वरी आदि देवताओं को यक्ष[४] नाम से ही संसूचित किया है कहीं भी शासन देव नहीं लिखा है। देखो पद्मपुराण, अभिषेकपाठसंग्रह आदि। सभी अभिषेक पाठों में रक्षण, विघ्ननिवारण के लिए दिग्पालों (लोकपालों) का ही आह्वान किया गया है शासन देवों का कहीं कोई नामोल्लेख तक नहीं किया गया है। बाद के ग्रंथों में शासन के अधिष्ठाता रूप में नहीं किन्तु शासन की रक्षा करने वाले के अर्थ में ये शासनदेव कल्पित किये गए हैं। जैसा कि यशस्तिलक चम्पू में सोमदेव सूरि ने लिखा है :—"ताः शासनाधिरक्षार्थं कल्पिताः परमागमे"।

इससे स्पष्ट है कि-ये स्वयं मूर्त्तिमान "जिन-शासन" नहीं हैं ये तो शासन के रक्षक कल्पित देव हैं। अगर इन्हें ही वास्तविक जिन शासन मान लिया जायेगा तो फिर जैन धर्म के अधिनायक जिनेन्द्र देव नहीं रहकर ये देवगति के यक्षदेव अधिनायक हो जायेंगे। फिर तो वह शासन भी जिनशासन न रहकर यक्षशासन हो जायेगा।

---

४. यक्षयते पूजयति जिनं इति यक्षः। जिनेन्द्र के पूजक सेवक भक्त को 'यक्ष' कहते हैं इसी से तिलोय पण्णत्ति (अ. ४ गा. ९३६) में लिखा है—तित्थयराणं पासे चेट्ठंते भत्ति संजुत्ता अर्थात्—ये यक्ष तीर्थंकरों के पास में भक्त बनकर खड़े रहते हैं।

वाद के ग्रंथकारों ने इन यक्षों को 'शासनदेव' नाम अधिष्ठाता रूप से नहीं प्रत्युत: जिनशासन के रक्षक रूप से दिया है। किन्तु यह भी व्यर्थ है क्योंकि पूर्वाचार्यों ने जैन-जगत (जिनशासन) के रक्षक दिग्पाल (लोकपाल) क्षेत्रपाल पहिले से ही बता रखे हैं तब फिर ये और नये रक्षक क्यों ईजाद किये गये? क्या उन दिग्पाल-लोकपालादि की रक्षकता में कोई कमी आ गई थी? इनके सिवा तत्वार्थसूत्र अध्याय ४ के सूत्र ५ में बताया है कि—"त्रायस्त्रिंश लोकपाल वर्ज्या: व्यंतर ज्योतिष्का: 'अर्थात्-व्यंतर और ज्योतिष्क देवों में त्रायस्त्रिंश (पुरोहित) और लोकपाल (रक्षक) भेद नहीं होते। अत: ये शासन के रक्षक रूप में भी शासनदेव (व्यंतर-यक्ष) शास्त्र विरुद्ध सिद्ध होते हैं। क्षेत्रपाल, लोकपाल दिग्पाल की तरह इनका नाम भी शासनपाल रखा जाता तो ज्यादा अच्छा रहता फिर शासनाधिष्ठाता रूपक कोई प्रश्न या भ्रम ही उत्पन्न नहीं होता।

प्रश्न:—'जैनं जयति शासनम्"[५] इस श्लोक में जो जैन

५. जयतु (लोट्लकार) की जगह यहाँ जयति (लट्लकार) का प्रयोग क्यों है? क्या जयति कोई अव्यय है? समाधान—ऐसे प्रयोग अनेक पाये जाते हैं देखो—(१) जयति भगवान् हेमां-भोज (२) तज्जयति परंज्योति: (३) जयंति ते जिना: येषां। इनमें 'जयति' और 'जयंति' अव्यय नहीं है किन्तु ये जयतु और जयन्तु के स्थान में प्रयुक्त किये गये हैं। ऐसा ही एक प्रयोग पुरुषोत्तम देव कृत "त्रिकांडशेष" ग्रंथ के मंगलाचरण में है-जयंति संत: कुशलं प्रजानां। इसकी टीका में शीलांकाचार्य ने लिखा है- "जेस्तुवन्त्वोस्तिवन्ती" इत्यनुशासनात् अन्तुस्थाने अन्ति। अर्थात् 'जि' धातु के तु और अन्तु के स्थान में क्रमश: ति और अंति भी होते हैं। यह नियम सिर्फ 'जि' धातु के ही लिये है और उसमें भी लोट्लकार के प्रथम पुरुष के एक वचन और बहुवचन के लिये ही है अन्य के लिये नहीं। यह व्याकरण शास्त्र का नियम है।

शासन की जय की गई है वह 'जिनशासन' नवदेवों में कौन सा देव है ? क्या वह कोई दसवां देव है ?

उत्तर :--नवदेवों से भिन्न कोई दसवां पूज्य देव नहीं है। शासन का एक अर्थ शास्त्र (जिनवचन) भी होता है। देखो हेमचन्द्र कृत 'अनेकार्थ संग्रह' कांड ३-शासन नृपदत्तोर्व्यां शास्त्राज्ञा-लेख शास्तिषु। ४५३। सिद्धं सिद्धट्ठाणं ठाण मणोवम सुहं उवगयाणं। कुसमय विसासणं सासणं जिणाणं भव जिणाणं ॥१॥ सन्मति सूत्र की इस मंगल-गाथा में भी शासन शब्द का प्रयोग शास्त्र अर्थ में ही किया गया है। ऐसा ही वसुनंदि श्रावकाचार गाथा ३८७ और ३८९ में है।

शासन और शास्त्र शब्द एक ही शास् धातु से बने हैं। अतः यहां जिनवचन ही जिनशासन है। जिनवचन के अधिष्ठाता देव श्रुतदेव ही वस्तुतः जिनशासन देवता है, ये मूर्ति रूप में हो चाहे शिलालेख या हस्तलिखित मुद्रित शास्त्र पुस्तक रूप में हों पूज्य मान्य हैं[६] इनके सिवा अन्य सब शासनदेव मिथ्या और अपूज्य हैं।

प्रश्न :—शास्त्रों में जो श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि, लक्ष्मी आदि देवियों के नाम पाये जाते हैं क्या ये पूज्य गुणदेवियां हैं ?

उत्तर :—जिस तरह मनुष्यों में लक्ष्मी बाई, शांति कुमारी, सरस्वती देवी, बुद्धिवल्लभ, कीर्तिधर आदि नाम पाये जाते हैं नामानुसार उनमें वे साक्षात् पूर्ण गुण नहीं हैं उसी तरह श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि, लक्ष्मी आदि नाम, देवियों में भी पाये जाते हैं ये इन गुणों की साक्षात् मूर्तिमंत अधिष्ठात्री देवियां नहीं हैं। ये श्री ह्री आदि ६ देवियां षट् कुलाचल वासिनी

---

६. वारह अगं गीजा दंसण तिलया चरित्त वत्थ धरा, चोदह पूव्वाहरणा ठावेयव्वा य सुयदेवी ॥३९१॥ वसुनंदि-श्रावकाचार

सचेतन देवियां हैं इसी से तत्वार्थ सूत्र अध्याय ३ सूत्र १९ में इनकी एक पल्य मात्र आयु बताई है देखो 'तन्निवासिन्यो देव्य: श्री ह्री धृति कीर्ति बुद्धि लक्ष्म्य: पल्योपमस्थितय: ।"

उत्तर पुराण पर्व ६३ में गुणभद्राचार्य ने इन्हे व्यंतरियां और इन्द्र की वल्लभा बताया है। यथा-तेषामाद्येषु षट्सु स्युस्ता: श्री ह्री धृतिकीर्तय: । बुद्धि लक्ष्मीश्च शक्रस्य व्यन्तर्यो वल्लभांगना: ॥२०॥

इससे स्पष्ट है कि ये गुण देवियां नहीं हैं देव-गति की व्यंतरियां हैं अत: पूज्य नहीं हैं (इन्हें कहीं कहीं दिक्कुमारी और दिक्कन्यका भी लिखा है)

इस तरह जब इन तथाकथित शासन देवों के मूल में ही पूरी सारी गड़बड़ है तब इनकी पूजा की बात तो अभी दूर है वह तो किसी तरह भी समीचीन नहीं हो सकती। इस विषय में और भी विशेष जानने के लिये हमारी पुस्तक "जैननिबंध-रत्नावली" के निम्नांकित लेखों का अध्ययन कीजिये—

लेख नं. २८-धरणेन्द्र पद्मावती ।

लेख नं. ३०-प्रतिष्ठा शास्त्र और शासनदेव ।

लेख नं. ३२-दस दिग्पाल ।

लेख नं. ३३-इसे भक्ति कहें या नियोग ।

लेख नं. ४०-चौबीस यक्ष यक्षियां ।

इनके सिवा "पद्मावती पूजा मिथ्यात्व है" नाम का हमारा ट्रेक्ट भी पढिये ।

प्रश्न :–शासन के भक्त-देवता मानकर कृतज्ञता रूप में अगर शासन देवों की पूजा की जाये तो क्या आपत्ति है ?

उत्तर :–शासन के भक्त होने से ही अगर शासन देव पूज्य माने जांयें तो फिर सभी सम्यक्त्वी व्रती तिर्यंच मनुष्य भी

पूज्य हो जायेंगे किन्तु पूज्यता भक्ति से नहीं आती वह तो संयम से आती है और देव संयम के नितांत अयोग्य हैं अतः वे सर्वथा अपूज्य हैं। भक्ति करना कोई अहसान नहीं है जो कृतज्ञता ज्ञापन की जाय। शासन देवों की जिनभक्ति में श्रद्धा के बजाय केवल नियोग है जो उन की ड्यूटी-कर्त्तव्य है।

प्रश्न :–जिस तरह चक्रवर्ती के परिवार का पूजन न करने पर चक्रवर्ती से सेवकों को फल की प्राप्ति नहीं होती उसी तरह शासन देवों की पूजा किये बिना जिनेन्द्र से फल-प्राप्ति नहीं होती अतः शासनदेव-पूजा विधेय है।

उत्तर :-शासनदेवों को जिनेन्द्र के परिवार के बताना जिनेन्द्र को देवगति का देव (असंयमी) बनाना है और शासन देवों को मनुष्यगति का संयमी मनुष्य बनाना है-यह उल्टी गंगा बहाना है जो जिनेन्द्र तथा देव दोनों का ही अवर्णवाद है। ऐसे अवर्णवादों से कोई पूजा कभी विधेय नहीं हो सकती। जिनेन्द्र तीन लोक के स्वामी हैं और शासनदेव उनके किंकर हैं। मालिक और नौकर को एक बताना मूढता है।

प्रश्न :-जिस तरह चपरासी या अहलकार को कुछ रकम देने से सरकारी काम सिद्ध हो जाता है उसी तरह शासनदेवों को अर्घ देने से धर्म-कार्य सिद्ध हो जाता है।

उत्तर :-राज्य कर्मचारी को व्यक्तिगत रकम देना रिश्वत है। इसका देने और लेने वाला दोनों कानूनन अपराधी हैं। उसी तरह शासनदेवों को अर्घ प्रदान करना भी जैन शासन में धार्मिक जुर्म है।

प्रश्न :-जिन-प्रतिमा के साथ शासन-देवता, क्षेत्र-पाल, नव-ग्रह, गंधर्व, यक्ष, नाग, किन्नरादि की मूर्तियां भी पाई जाती हैं अतः ये सब देवगण पूज्य हैं।

उत्तर :-जिन-प्रतिमा के साथ उक्त देवताओं की मूर्तियां जिनेन्द्र के सेवक पूजक भक्त रूप में प्रदर्शित की गई हैं। जैनेतर संप्रदायों में इन देवी-देवताओं को बहुत बड़ा बताया गया है जैनशास्त्रकारों ने उन्हीं देवी देवताओं को जिनेन्द्र के सेवक रूप में प्रस्तुत कर जिनेन्द्र की महत्ता-देवाधिदेवता प्रदर्शित की है।

साथ होने से ही कोई बराबर हो जाता हो तो अनेक जिन-प्रतिमाओं के उपर कलश करते हाथी, आसन रूप में कमल और सिंह, पादपीठ में हिरण और २४ चिन्हों के रूप में विविध पशु पक्षी वृक्षादि अंकित रहते हैं तो ये सब तिर्यञ्च भी पूज्य हो जायेंगे। मूर्ति पर मच्छर मक्खी भ्रमर मूषक पक्षी आदि भी आकर बैठ जाते हैं तो ये भी पूज्य हो जायेगे। मालिक के पास बैठकर मालिक की पगचम्पी करने वाला नौकर भी मालिक हो जायेगा किन्तु ऐसा नहीं है मालिक, मालिक ही रहता है और नौकर नौकर ही रहता है। इसी तरह जिनेन्द्र के सेवक देवतागण जिनेन्द्र के पास स्थित होने से पूज्य नहीं हो जाते वे तो पूजक ही रहते हैं।

फलों के साथ रहने वाले छिलके फलों के रक्षक और फल ही कहलाते हुए भी अनुपयोगी अग्राह्य मलरूप माने जाते हैं वही स्थिति शासन देवों की समझनी चाहिये। चाहे वे जिन-प्रतिमा के साथ हों चाहे अलग। वे हमेशा अपूज्य ही हैं। छिलकों का सेवन पशु करते है मनुष्य नहीं। मनुष्य तो फलों का सेवन करते हैं उसी तरह शासनदेवों की सेवा-पूजा मूढ-अविवेकी करते हैं। सम्यक्त्वी-विवेकी नहीं। विवेकी तो जिनेन्द्र की ही सेवा-पूजा करते हैं। अनाज के साथ भूसा और कंकर भी होते हैं साथ होने से वे कभी ग्राह्य

नहीं होते-ग्राह्य तो अनाज ही होता है, भूसा कंकर नहीं। यही स्थिति शासन देवों के साथ समझ लेनी चाहिये। अतः जिनशासन ही की भक्ति करना चाहिये शासनदेवों की नहीं, क्योंकि-शासनदेव तो स्वयं जिनशासन के भक्त-नौकर हैं खुद जिनशासन नहीं हैं। नौकर की क्या नौकरी करनी, नौकरी तो ठाकर (भगवान्) की करनी चाहिये। इसीसे सिद्धांतसार (नरेन्द्रसेनाचार्यकृत) में जिनशासन ही की भक्ति बताई है शासनदेवों की नहीं। देखो—"यो जिनशासन भक्ति मनसा वाचा च कायतो वापि। कुरुते तस्य समीहित सिद्धि स्त्वचिरेण कालेन ॥१०१॥ अ० ११

प्रश्न :-याग मण्डल में अरिहंत के साथ भवनत्रिक देवों की स्थापना क्यों की जाती है ? इससे क्या भवनत्रिक देव (भवन वासी, व्यंतर, ज्योतिष्क) पूज्य नहीं होते ?

उत्तर :-याग मण्डल के मध्य में अरिहंतादि परमेष्ठी और चारों तरफ भवनत्रिक देवों की स्थापना समवशरण सभा की नकल है। जिस तरह समवशरण सभा के मध्य में अरिहंत विराजमान होते हैं और चारों तरफ १२ सभा होती हैं जिसमें पूज्य तो अरिहंत होते हैं, बाकी तो सब पूजक होते हैं उसी तरह यागमण्डल की रचना में भी पूज्य तो अरिहंतादि परमेष्ठी ही होते हैं बाकी अन्य सब पूजक होते हैं। अकेले सभापति से सभा नहीं कहलाती। सभा सभासदों (श्रोतागण) से ही सुशोभित होती है इसी तरह यागमण्डल में शोभा और परिपूर्णता की दृष्टि से भवनत्रिक देवों को सम्मिलित किया गया है। इसमें पूज्यता का कोई प्रश्न नहीं है।

प्रश्न :-फिर भी कुछ प्रतिष्ठा-अभिषेक पाठादि ग्रंथो में शासनदेवों (भवनत्रिक) को अर्घसमर्पण करने का कथन क्यों पाया जाता है ? यथा—

१. यागेस्मिन्नाक नाथ,
ज्वलनपितृपते नैकर्षेय प्रचेतो।
वायोरैदेश शेषो,
डुप सपरिजना यूयमेत्य ग्रहाग्राः ॥१२॥
मंत्रै र्भूः स्वः स्वाधाद्यै,
रधिगतबलयः स्वासुदिक्षूपविष्टाः।
क्षेपीयः क्षेमदक्षाः,
कुरुत जिनसवोत्साहिनां विघ्नशांतिम् ॥१३॥
—सोमदेवकृत अभिषेक पाठ (यशस्तिलकचम्पू)

२. पूर्वाशाधीश हव्या,
शन महिषगते नैर्ऋते पाशपाणे।
वायो यक्षेन्द्र चन्द्रा,
भरणफणिपते रौहिणीजीवितेश ॥१०॥
सर्वेप्यायात याना,
युध युवतिजनैः सार्धमों भू र्भुवः स्वः।
स्वाहा गृण्हीत चार्घ्यं,
चरुममृतमिदं स्वास्तिकं यज्ञभागं ॥११॥
—पूज्यपाद अभिषेक पाठ

३. आवाहिऊण देवे,
सुरवइ सिहिकालणेरिए वरुणे।
पवणे जखे ससूली,
सपियसवाहणे ससत्थे य ॥४३९॥
दाऊण पुज्जदव्वं,
बलि चरुयंतहय जण्ण भायं च।
सव्वेसिं मंते हिय,
वीयक्खरणाम जुत्तेहिं ॥४४०॥
—देवसेन कृत भावसंग्रह

४. इन्द्रादृंयष्ट दिशापालान् दिशाष्टसु निशापतिं ।
रक्षो वरूणयोर्मध्ये शेषमीशानशक्रयो: ४८१
न्यस्या ह्वानादिकं कृत्वा क्रमेणंतान्मुदं नयेत् ।
वलिप्रदानत: सर्वान्स्वस्वमंत्रै यंथादिशं ॥४८२॥

— वाम देवकृत भावसंग्रह

इनमें दशदिग्पालों का आह्वान कर उनसे अर्ध्यादि पूजाद्रव्य (यज्ञांश) ग्रहण करने का निवेदन किया गया है इसमें क्या तात्पर्य रहस्य सन्निहित है ?

उत्तर :–उपलब्ध प्रतिष्ठापाठों में वसुनंदिश्रावकाचार के अन्तर्गत ६० गाथाओं का प्रतिष्ठा प्रकरण ही प्राचीन है अन्य (आशाधरादिकृत) सव उसके बाद के हैं। वसुनंदि प्रतिष्ठा प्रकरण में कहीं भी शासनदेवों (भवनत्रिक) को अर्घसमर्पण का कोई कथन नहीं है। जटासिंह नंदि कृत वरांग चरित (८ वीं शती का) प्राचीन ग्रन्थ है उसके पर्व २३ में जिन बिम्ब प्रतिष्ठा विधि का विस्तृत वर्णन है उसमें भी कहीं दिग्पाल-शासनदेवादि का आह्वान और उनका पूजन कतई नहीं बताया हैं। बाद के प्रतिष्ठा-अभिषेक-पाठादि ग्रंथो में यह नई शैली अपनाई है उसका तात्पर्य भी शासनदेव-पूजा नहीं है किन्तु सौधर्मेन्द्र द्वारा भवनत्रिक देवों को अर्घ-समर्पण जिनेन्द्रदेव की पूजा के लिए किया गया है अर्थात् इन्द्र भगवान का पंच कल्याणक महोत्सव मनाता है अगर वह अकेला मनाये तो कोई ठाटवाट नहीं रहता अत: इन्द्र अपनी

देवगति के चतुर्णिकाय देवों का आह्वान करना है७ और भगवान की पूजा करने के लिये उन सबको अर्घ-पूजाद्रव्य प्रदान करता है इसे ही यज्ञाँशदान (पूजाद्रव्य के हिस्से का देना) कहा गया है जो सामूहिक (सम्मिलित) पूजा का अंग समझना चाहिये। आज भी ऐसी ही शैली नित्यपूजा और मण्डल विधान पूजा में भी दृष्टिगत होती है—पूजक मनुष्य मंदिर में आगत अपने साधर्मी भाइयों को अपने पूजाथाल में से जिनपूजा के लिए अर्घसमर्पण करता है। जिस तरह यहां साधर्मियों को अर्घसमर्पण साधर्मी पूजा नहीं है किन्तु वह जिनपूजार्थ है उसी तरह प्रतिष्ठा-अभिषेकादि ग्रन्थो में इन्द्र द्वारा भवनत्रिकों को अर्घसमर्पण भवनत्रिकदेव-पूजा नहीं है

---

७. A. चतुर्णिकायामर संघ एष आगत्य यज्ञे विधिना नियोगं।
स्वीकृत्य भक्त्याहि यथार्हं देशे सुस्था भवन्त्वाह्निक
कल्पनायां ॥१॥

B. महपूजासु जिणाणं कल्लाणेसु य पजंति कप्पसुरा ॥५५४॥
त्रिलोकसार।

C. देवाः सर्वेऽच्युतान्ता विकुरुत सुतनुं क्ष्मामिमामेत शान्त्यै ॥८॥
नित्य-महोद्योत ("जिन यज्ञ कल्प" अ० ३ श्लोक १)

D. चतुर्विधसुदेवौघैः पूजितं सुमहोत्सवैः। तीर्थकृत्परमंस्थानं संयजे चाष्टधार्चनैः॥ —सप्तपरमस्थानपूजा (शुभचन्द्र कृत)

E. तद्वच्चैशानमुख्याः कृततदवभृथस्नातयोऽन्येपि चार्चां ॥४॥
नित्यमहोद्योत

पंचकल्याणकादि में जिन-पूजार्थदेवगणों के आने की बात तिलोयपण्णती महापुराणादि बीसों ग्रन्थों में भी लिखी है किन्तु किसी में उन देवताओं की पूजा करने की बात कहीं भी नहीं लिखी है।

लेकिन वह भी जिनपूजार्थ ही है ।

ऊपर जो ३ ग्रन्थ-प्रमाण दिये हैं उनमें अर्घादि द्वारा दिग्पालों को पूजने का तृतीया विभक्ति परक कथन नहीं है किन्तु दिग्पाल अर्घादि को ग्रहण करें ऐसा द्वितीया विभक्ति परक कथन है । ऐसा ही कथन अन्य अभिषेक पाठादि में है। इनसे स्पष्ट और सुसंगत रूप से सिद्ध है कि-इन्द्र द्वारा दिग्पालादि को अर्घसमर्पण जिनपूजार्थ है। स्वयं दिग्पालों की पूजा के लिए नहीं ।

प्रश्न—आहूता ये पुरा देवा लब्धभागा यथाक्रमं ।
ते मयाभ्यर्चिता भक्त्या सर्वे यांतु यथास्थितिं ।।

विसर्जनपाठ के इस श्लोक में तो देवों का आह्वान उनकी भक्ति पूर्वक पूजा करने की दृष्टि से वताया गया है यह कैसे ?

उत्तर—इसमें 'ते मयाभ्यर्चिता भक्त्या" पाठ ही गलत है वह बदला हुआ है। प्राचीन अर्वाचीन अनेक हस्तलिखित गुटकों में इस जगह शुद्ध पाठ "ते जिनाभ्यर्चनं कृत्वा" पाया जाता है । हमारे पास शेरगढ़, हिंडोली, बसवा, चांदखेड़ी से प्राप्त कुछ हस्तलिखित गुटके हैं उन सब में भी यही "ते जिनाभ्यर्चनं कृत्वां" शुद्ध और सुसंगत पाठ पाया जाता है । यही शुद्ध पाठ रावजी सखाराम दोशी शोलापुर द्वारा प्रकाशित 'शासनदेव पूजा के अनुकूल अभिप्राय" नामक ट्रेक्ट के पृ. ७१ और ७४ पर पाया जाता है इस पाठ के विषय में वहां पं. वंशोधरजी शास्त्री शोलापुर वालों ने लिखा है कि—' यह पाठ इधर के पूजापाठों में व प्रतिष्ठा पाठों में तथा पुरानी हस्तलिखित प्रतियों में मिलता है-यह पाठ सिद्धांत अनुकूल और शब्दशास्त्र से भी निर्दोष है ।"

हमारे पास के एक गुटके में यह विसर्जन श्लोक लघु अभिषेक पाठ का बताया गया है वहां लिखा है:

आहूता ये पुरा देवा लब्धभागा यथाक्रमं ।
ते जिनाभ्यर्चनं कृत्वा सर्वे यान्तु यथास्थितं ।।

स्वस्थानं गच्छ गच्छ पुष्पाक्षत वर्षेण सर्वामर विसर्जनं- इति अभिषेकः समाप्तः । (शायद यह अभयनंदि कृत लघुस्नपन (श्रेयोविधान) का विसर्जन श्लोक हो किन्तु मुद्रित लघुस्नपन में यह श्लोक नहीं पाया जाता है सम्भवतः छूट गया हो)

इस शुद्ध श्लोक का सही अर्थ इस प्रकार है—

"जिन देवों का पहिले आह्वान किया गया था और जिन्होंने (अर्हंत्पूजार्थ) यथाक्रम से अपना अपना पूजाद्रव्य भाग प्राप्त कर लिया वे अब जिन-पूजा करके अपने-अपने स्थान को जावें ।"

इस कथन से सुस्पष्ट है कि-इन्द्र द्वारा देवगण जिनेन्द्र की पूजा के लिए ही बुलाये जाते हैं ।[८] स्वयं उन देवों की पूजा के लिये नहीं और उन देवों को पूजाद्रव्य भी जिन पूजा के लिये ही अर्पण किया जाता है स्वयं उनकी पूजा के लिए नहीं ।

यही बात निम्नांकित ग्रन्थों के विसर्जन श्लोक और मन्त्रों में स्पष्ट लिखी है—

---

८. एते तेति त्वरितं ज्योतिर्व्यन्तर दिवौकसाममृत भुजः ।
कुलिश भृदाज्ञापनया कुर्वन्त्यन्ये समंततो व्याह्वानम् ।।१२।।
नंदीश्वर भक्ति

इसकी प्रभाचन्द्र कृत टीका में लिखा है कि—देवों का आह्वान अर्हंत्पूजार्थ किया जाता है देखो—(देवा कुर्वन्ति व्याह्वानं शब्दं अर्हंत्पूजार्थं इन्द्राज्ञया ।

(१)

मंगलार्थं समाहूता विसर्ज्याखिल देवताः ।
विसर्जनाख्य मंत्रेण वितीर्य कुसुमांजलि ॥१२४॥
ॐजिनपूजार्थं समाहूता देवता विसर्जनाख्य मंत्रेण
सर्वे विहित महा महाः स्वास्थानं गच्छत यः यः यः ।
इति विसर्जनमंत्रः—प्रतिष्ठासार संग्रह (वसुनंदिकृत)

(२)

प्रागाहूता देवता यज्ञभागैः
प्रीता भर्त्तुः पादयोरर्घदानैः ।
क्रीतां शेषां मस्तके रुद्वहंत्यः,
प्रत्यागन्तुं यान्त्वशेषा यथास्वं ॥१६५॥
—नित्य महोद्योत (आशाधर कृत)

(३)

ॐ जिन पूजार्थमाहूता देवाः सर्वे विहित महामहाः स्वस्थानं गच्छत गच्छत जः जः इति विसर्जन मन्त्रोच्चारणेन यागमण्डले पुष्पांजलि चितीर्य देवान् विसर्जयेत् ॥१॥
—'जिनयज्ञकल्प' अध्याय ५ (आशाधर कृत)

(४)

देव देवार्चनार्थं ये समाहूताश्चतुर्विधाः ।
ते विधायार्हतां पूजां यांतु सर्वे यथायथं ॥
—इन्द्रनंदि संहिता

(५)

वधे मूर्ध्नाहितः शेषा माहूता सर्वदेवता :
मया क्रमाद् विसृज्यंते निर्गच्छामि जिनालयात् ॥
—इन्द्रनंदि संहिता (पूजासार पत्र ६२)

इनमें वताया है कि—'जिनपूजा के लिए जिनका आह्वान किया गया है और जिन्होंने पूजाद्रव्य प्राप्त कर उससे जिन-पूजा करली है वे सब देवगण अपने अपने स्थान को जावें।'

ये सब श्लोक और मंत्र 'आहूता ये पुरा देवा' इस श्लोक के हूबहू रूपान्तर हैं तथा इनसे "ते जिनाभ्यर्नं कृत्वा" इस शुद्ध पाठ की भी ठीक पुष्टि हो जाती है।

अभयनंदिकृत लघुस्नपन (भावशमंकृत टीका) में लिखा है :—

१. गंधं बंधुरधीः प्रतीच्छतुतरामत्रार्हतः पूजने ॥२१॥

(टीका-बंधुरधी :=धनपतिः, अत्रार्हतः पूजने=क्रियमाणे सर्वज्ञस्य स्नपने, गंधं=गंधादियज्ञभागं, प्रतीच्छतुतरां=अतिशयेन स्वीकुरुताम्)

२. पात्रं द्राक् प्रतिगृह्यतामिह महे पुष्पादि-काभ्यर्चनम् ॥२२॥

(टीका-पुष्पादिक मेवाभ्यर्चनं पूजाद्रव्यं तदेव स्वकं पात्रं, द्राक्=शीघ्रं, इहमहे=अस्मिन्नभिषेके, प्रतिगृह्यतां=स्वीक्रियताम्।)[६]

इनमें भी अर्हत्पूजन के लिये ही गंधादि पूजा-द्रव्य और पूजापात्र दिग्पालों को ग्रहण करने के लिये लिखा है।

इस तरह 'शासनदेवपूजा' शब्द का अर्थ शासन देवों की

---

६. आशाधर कृत 'नित्यमहोद्योत' (श्रुतसागर कृत टीका) में लिखा है-
पूजापात्र कराग्रतः सरमुपेत्यो पात्त बल्यर्चनाः ॥१०८॥
(टीका-पूजापात्राणि करेषु येषां ते पूजापात्रकरास्तेः अग्रतः सरः पुरोगामिनो यस्मिन्नु पायन कर्मणि तत्तथोक्तं, उपेत्य=आगत्य, उपात्तबल्यर्चनाः=उपात्तंगृहीतं बल्यर्चनं पूजोपहारपूजनं यैस्ते उपात्तबल्यर्चनाः)

पूजा सिद्ध नहीं होता किन्तु शासन देवों द्वारा जिन पूजा सिद्ध होता है यही अर्थ सब जगह ग्रहण करना चाहिये। अर्थात्- 'शासन देव पूजा' शब्द में षष्ठीतत्पुरुषसमास न लेकर तृतीया-तत्पुरुष समास लेना ही सुसंगत होगा।

प्रश्न :-गुणभद्रकृत अभिषेकपाठ के श्लोक ४९ के मंत्र भाग में लिखा है :—

"ॐ इन्द्र! आगच्छ इदं अर्घ्यं यज्ञभागं च यजामहे प्रतिगृह्यतां।"

इसमें पूजार्थक यंज धातु के प्रयोग से इन्द्र नाम के दिग्पाल की पूजा सिद्ध होती है (अभिषेक पाठ संग्रह पृष्ठ २३) ऐसा ही अभयनंदि कृत लघुस्नपन के श्लोक १५ के मंत्रभाग में लिखा है (अभिषेक पाठ संग्रह पृष्ठ ६७) इन सब का क्या समाधान है?

उत्तर :-"यजी देव पूजा संगतिकरण दानेषु" अर्थात् यज्-धातु के तीन अर्थ होते है १-देवपूजा २-संगति करना, सन्निकट होना ३-देना। यहां यजामहे का अर्थ ददामहे-देता हूं है देखो अभिषेक पाठ संग्रह पृष्ठ ६७। (भावशर्मकृत टीका)। यहां 'यजामहे' का ददामहे' के सिवा और कोई दूसरा अर्थ संभव ही नहीं है। अगर पूजा अर्थ लिया जायेगा तो उन द्रव्यों को पूजना अर्थ हो जायेगा और आगे की क्रिया से भी उसका अर्थ नहीं जुड़ेगा। पूजा अर्थ तो तब होता जब अर्घ्यं और यज्ञभाग शब्द द्वितीया विभक्ति के बजाय तृतीया विभक्ति में होते किन्तु ऐसा है नहीं इसी से टीकाकार भावशर्मा ने यजामहे का अर्थ स्पष्टतया ददामहे ही दिया है। पूरे मन्त्र भाग का सही अर्थ इस प्रकार है :— हे इन्द्र आओ और यह अर्घ्य यज्ञभाग तुम्हें देता हूं इसे स्वीकार करो।"

यहां गृह्यतां (ग्रहण करो) शब्द से ही काम चल सकता था फिर भी जो 'प्रति' उपसर्ग लगाया है वह जिनेन्द्र के प्रति ग्रहण करो इस भाव के द्योतन के लिये लगाया है अर्थात्—यह पूजा द्रव्य दिग्पाल की पूजा के लिये प्रदान नहीं किया गया है किन्तु जिन-पूजा के लिये दिग्पाल को दिया गया है। यह आशय स्पष्ट अभिव्यक्त होता है।[१०]

यज धातु के जो ऊपर ३ अर्थ बताये हैं उनमें पूजा अर्थ अरहंत ही के साथ लगाना चाहिये बाकी देना और संगति करना अर्थ भवनत्रिक देवों के साथ लगाना चाहिये।

नित्यमहोद्योत श्लोक ९५ की टीका में (अभिषेक पाठ संग्रह पृष्ठ १८७ में) लिखा है—"यजे=पूजयामि इति सन्निधिकरणं सूचितं अर्थात् यहां यज धातु का तात्पर्य सन्निधिकरण अर्थ में है। आगे के श्लोकों में भी यज धातु का प्रयोग है उन सब का यही अर्थ है कि इन्द्र भवनत्रिक देवों को जिनपूजार्थ अपने सन्निकट (साथ में) लेता है।[११] अथवा भवनत्रिकों को जिनपूजार्थ पूजाद्रव्य देता है। किसी ग्रंथकार ने यज धातु के पर्यायवाची रूप में अर्च, पूजा, मह आदि धातुओं का भी कहीं प्रयोग कर दिया हो तो उसका भी यही (दान, संगतिकरण ही) अर्थ

---

१०. जिस प्रकार जिन-पूजा में "अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा" लिखा गया है ऐसा भवनत्रिक देवों के अर्घ्यं समर्पण में कहीं भी नही लिखा है वहां तो "इदं अर्घ्यं गृह्णीध्वं। इदं नैवेद्यं प्रति गृह्यतां" ऐसा साधारण लिखा है। जिसका अर्थ यह अर्घ्यादि ग्रहण करो ह। वह अर्घ्यं नैवेद्य ग्रहण भी अर्हंत् पूजार्थ ही होता है।

११. नेमिचन्द्र प्रतिष्ठातिलक में भी इसी वात को शासन देवियों के विशेषण रूप में इस प्रकार लिखा है "सर्वज्ञयज्ञ सहकारितां आचरंतीनां।"

लेना चाहिये, अष्टद्रव्य-पूजा रूप अर्थ नहीं क्योंकि चतुर्णिकाय देवों के साथ यह असंगत और असमीचीन है।

नित्यमहोद्योत श्लोक ५१ (अभिषेक पाठ संग्रह पृष्ठ १५१) में 'भूम्यर्चन' (भूमिपूजा) का कथन है उसका टीका कार ने अर्थ-"भूमि-शुद्धि" दिया है। नीचे पाद टिप्पण में लिखा है- 'ॐ ह्रीं श्रीं क्ष्वीं भूः शुद्ध्यतु स्वाहा। भूमिशोधनम् ॥"

यही बात गुणभद्र कृत वृहत्स्नपन के श्लोक २ में इस प्रकार दी है: – ॐ शोधयामि भू-भागं जिनेन्द्राभिषवोत्सवे ॥ भूमि शोधनम्। (अभिषेकपाठसंग्रह पृष्ठ—१४) पृष्ठ १४५-दर्भपूलेन भूमिं सम्मार्जयेत्। ज्वलर्भपूलाननलेन भूमिं ज्वालयेत्। इति भूमि शोधनं (अभिषेक पाठ संग्रह पृ० १४६) यहां भूमि पूजा का अर्थ भूमि की अष्टद्रव्य से पूजा नहीं है किन्तु जलादि से भूमि का धोना और बुहारी से भूमि का प्रमार्जन करना है जो सार्थक और संगत है।

इसी तरह पीठार्चन का अर्थ पीठ की जलादि से शुद्धि[12] और पीठ पर अष्ट द्रव्य थाल रखना है। कलशार्चन का अर्थ भी चारों कोणों में कलशों की स्थापना करना है। यही पीठ और कलश की सही पूजा है।

नित्यमहोद्योत श्लोक ७३ के 'प्रसाद्य' पद का टीकाकार ने प्रसन्नी कृत्य-पूजयित्वा अर्थ किया है (अभिषेक पाठ संग्रह पृष्ठ १६३) इससे पूजा का अर्थ प्रसन्न करना भी हो जाता है।

इस तरह अर्चन या पूजा शब्द का अर्थ सर्वत्र अष्ट द्रव्य से पूजन करना ही नही होता है किन्तु द्रव्य क्षेत्र काल भावानुसार विविध अर्थ हो जाते हैं। प्रकरणानुसार संगत अर्थ ही लेना चाहिये।

१२. ॐ नमोऽर्हते भगवते पवित्रतर जलेन पीठ प्रक्षालनं करोमि।

सोमदेव सूरि ने 'यशस्तिलक चम्पू' आश्वास ८ में लिखा है :—

देवं जगत्त्रयीनेत्रं, व्यन्तराद्याश्च देवताः ।
समं पूजाविधानेषु, पश्यन्दूरं व्रजेदधः ॥२४०॥
ताः शासनाधिरक्षार्थं कल्पिताः परमागमे ।
अतो यज्ञांश दानेन माननीयाः सुदृष्टिभिः ॥२४१॥

अर्थात्—सर्वज्ञदेव अरिहंत और व्यंतरादि देवताओं को पूजा विषय में जो समान देखता है वह नीचे-नरक में दूर तक जाता है अर्थात्-सातवें नरक के नीचे जो निगोदस्थान है वहां तक का पात्र होता है ॥२४०॥

वे व्यन्तरादि देवता शासन की रक्षा के लिये आगम में कल्पित किये गये हैं अतः सम्यग्दृष्टि उन्हें (जिनपूजार्थ) पूजा-द्रव्यभाग देकर सम्मानित प्रसन्न करे ॥२४१॥

इसमें व्यन्तरादि देवों की पूजा तो दूर पूजा की दृष्टि मात्र को नरक-निगोद का स्थान बताया है।

जिस तरह सुभौम चक्रवर्ती ने व्यन्तर देव के बहकावे में आकर जल में नमस्कार मंत्र लिख उसे मिटा दिया था और जिससे वह सातवें नरक में गया था तो जो व्यन्तर-पूजा (मिथ्यात्व सेवन) करते हैं वे तो निश्चय ही नरक निगौद के पात्र होंगे इसमें कोई संशय नहीं। इसी से स्वामी समन्तभद्र ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में लिखा है :—

न सम्यक्त्व समं किंचित् त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि ।
श्रेयोश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत् तनुभृताम् ॥३४॥

अर्थात्—प्राणियों के लिये तीन काल और तीन लोक में सम्यक्त्व के समान दूसरा न तो कोई हितकारी है और न मिथ्यात्व के समान कोई दूसरा अहितकारी है।

ऊपर श्लोक २४१ में सोमदेव ने कल्पित शासनपालों को जिनपूजार्थं पूजाद्रव्य देना बताया है स्वयं उनको पूजना नहीं बताया है अगर उन्हें ऐसा बताना इष्ट होता तो वे "माननीया:" की बजाय "पूजनीया:" शब्द का प्रयोग कर सकते थे। किन्तु ऐसा है नहीं, सोमदेव ने तो यशस्तिलक चम्पू के आश्वास ६ श्लोक १३९ से १४२ में सूर्य को अर्घ प्रदान करना यक्षादि की सेवा पूजा करना इनको स्पष्ट मूढता-मिथ्यात्व बताया है।[१३]

इन्द्र शासनदेवादि का आह्वान और उन्हें अर्घ-समर्पण जिनपूजा ही के लिये करता है इसकी अभिव्यक्ति जिन-यज्ञ-कल्प (आशाधार कृत) अध्याय ३ के निम्नांकित श्लोकों से भी अच्छी तरह होती है :—

प्रभुं भक्तु मिहागत्य प्राचीं चिन्वन्निज श्रिया ।
बलिं विजययक्षेश मंत्रपूतां स्वसात्कुरु ॥१९६॥
अत्रापाचीमलंकृत्य भजमानो जगत्पतिम् ।
यथार्हबलिसंतुष्टो वैजयंत जयं तनु ॥१९७॥
देवाधिदेवसेवायै प्रतीचीं दिशमास्थितः ।
बलिदानेन संप्रीतो जयंत जय दुर्जयान् ॥१९८॥

इनमें कहीं भी पूजाद्रव्यों से यक्षों को पूजित करने की बात नहीं लिखी है किन्तु जिनेन्द्र की पूजा के लिये दिये गये पूजाद्रव्यों से उनका संतुष्ट होना लिखा है।

प्रश्न :—जिनयज्ञकल्प अपरनाम प्रतिष्ठा सारोद्धार यानि आशाधर प्रतिष्ठापाठ के अध्याय ३ श्लोक ५० में अच्युतादेवी के लिये "प्रणौमि" (नमस्कार करता हूं) यह कैसे लिखा है ?

---

१३. सूर्यार्घोग्रहण-स्नानं····रत्नवाहन भू यक्ष शस्त्र शैलादि सेवनं ।
एवमादि विमूढानां ज्ञेयं मूढमनेकधा ॥ १३९-१४२ ॥

इसी तरह श्लोक १९२ में अनिल दिग्पाल के लिये भी 'प्रणौमि' (नमस्कार करता हूं) कैसे लिखा है ?

उत्तर :—जैन ग्रन्थ उद्धारक कार्यालय बम्बई से वि. सं. १९७४ में मुद्रित प्रति के ये पाठ गलत हैं। हमने आमेर शास्त्र भंडार की वि. सं. १५९० की प्राचीन हस्तलिखित प्रति मंगाकर देखी तो उसमें 'प्रणौमि' की जगह 'पृणामि' (संतुष्ट करता हूं) शुद्ध पाठ मिला है।

देवदेवियों की पूजा भक्ति की रूढिवश अविवेकी प्रतिलिपिकारों ने ऐसे गलत पाठ बना दिये हैं। शुद्ध पाठ पृणामि (संतुष्ट करता हूं) ही है इसकी पुष्टि उपरोक्त श्लोकों के आगे पीछे के श्लोक ५४, ४५ तथा १९०, १९१ में दिये 'प्रीणिताः', 'प्रमोदस्व', 'तर्पयामि', 'प्रीणयामि' पाठों से भी होती है। ये सब पाठ भी 'सन्तुष्ट करता हूं' इस अर्थ के ही वाचक हैं।

'अभिषेक पाठ संग्रह' पुस्तक में जितने अभिषेक पाठ दिये हैं उनमें एवं अन्य अभिषेक पाठों में तथा प्रतिष्ठादि ग्रन्थों में जो अनेक मंत्र यंत्र दिये हैं उन सब में सिर्फ पंच परमेष्ठी वाचक नामों के आगे ही नमः शब्द का प्रयोग किया गया है चतुर्णिकाय देवों के लिये कहीं भी नमः शब्द का कोई प्रयोग नहीं किया गया है इन देवों के लिये तो सिर्फ स्वाहा शब्द का प्रयोग किया गया है।[१४]

देवसेन कृत 'भावसंग्रह' गाथा ४४३ से ४७० तक सिद्ध चक्र

---

१४. अगर भूले भटके गलती से चतुर्णिकाय देवों के लिए कहीं 'नमः' लिखा मिल जाये तो उसे प्रमाण नहीं मान लेना चाहिये क्योंकि वह पूर्वाचार्यों से सम्मत नहीं है। प्रतिलिपिकारों के प्रमाद व अज्ञान से ही ऐसी गलतियां-अशुद्ध पाठ हो जाते हैं। प्राचीन शुद्ध प्रतियों से उन्हें ठीक कर लेना योग्य है।

यंत्र, शान्ति चक्र यंत्र, पंचपरमेष्ठी चक्र यंत्रों का वर्णन है इन सब में बताया है कि मध्य में 'ॐ अर्हंद्भ्यो नमः' इत्यादि लिखकर पंचपरमेष्ठी का स्थापन करना चाहिये और उनके परिकर रूप में भवनत्रिक देवों के लिए 'ॐ देवदेव्यै स्वाहा' लिखकर देवों का स्थापन करना चाहिए इनमें कहीं भी देवदेवियों के लिए नमः शब्द का कोई प्रयोग नहीं किया गया है। गाथा ४६८ में इन सब यंत्रों को स्पष्टतया पंचपरमेष्ठी वाचक ही बताया है (कहीं भी देव देवी यंत्र मन्त्र नहीं बताया है) देखो:—

ए ए जंतुद्धारे पुज्जह परमेट्ठिपंचअहिहाणे।
इच्छिय फलदायारो पाव घणप्पडल हंतारो ॥४६८॥

अर्थात्—ये यंत्रोद्धार पंचपरमेष्ठी वाचक हैं इनकी पूजा करने से इच्छानुसार फल की प्राप्ति होती है तथा पापरूपी बादलों के पटल विनष्ट हो जाते हैं।

महापुराण में जिनसेनाचार्य ने पीठिकादि अनेक मंत्र लिखे हैं उनमें कहीं भी शासनदेवों का नामोल्लेख तक नहीं है। वहाँ अरिहंत सिद्ध ऋषिवाची मंत्रों के आगे तो 'नमः, शब्द का प्रयोग किया है और सुरेन्द्र निस्तारकादि मंत्रों के आगे सिर्फ 'स्वाहा' शब्द का प्रयोग किया है कहीं भी नमः शब्द का प्रयोग नहीं किया है। स्वाहा आह्वान के लिये है और नमः पूजन के लिये है।[१५]

---

१५. आजकल जो नित्यपूजादि में देवशास्त्र गुरु-दशलक्षण-रत्नत्रय-पंचमेरु-निर्वाण क्षेत्रादि का आह्वानन-विसर्जन ठूणे में किया जाता है यह प्रणाली समुचित प्रतीत नहीं होती-यह आधुनिक, असंगत और सिद्धांत विरुद्ध पद्धति है। क्योंकि अरहंत सिद्धादि

'स्वाहा' शब्द का प्रयोग करने से बहुत से लोग ऐसा समझते हैं कि–अग्नि में आहुति देना उन देवों की पूजा करना है किन्तु ऐसा नहीं है। स्वाहा और आहुति शब्दों का अर्थ आह्वान करना,[१६] स्मरण करना है इस क्रिया की बाह्याभिव्यक्ति के लिए जल में या अग्नि में द्रव्य अर्पण किया जाता है

मुक्त जीव किसी के बुलाने से आते नहीं हैं और न किसी के भेजने से जाते हैं। इसके सिवा जब एक ही समय में अनेक पूजक उनका आह्वान करेंगे तो वे किसके पास जायेंगे और किसके पास नहीं जायेंगे ? कारण कि मुक्तात्मा तो संसार में कभी लौट कर नहीं आते हैं। यह तो रही मुक्तात्माओं की बात किन्तु जो अचेतन-स्थिर हैं ऐसे पंचमेरू और निर्वाण क्षेत्रादि वे किसी के लिये कैसे गमना गमन करेंगे ? तथा रत्नत्रय और दशलक्षण जैसे उत्कृष्ट गुणों का कैसे कोई विसर्जन करेगा ? आदि अनेक विप्रतिपत्तियां और असंगतियां हैं। ये सब ऊलजलूल व्यर्थ की क्रियायें हैं जो वैज्ञानिक-सुसंस्कृत-युक्तिवादी जैनधर्म की प्रतिष्ठा (PRESTIGE) के विरुद्ध है। इन्हें चाहें भक्ति का अतिरेक कहें किन्तु हैं ये सब विडम्बनामात्र। प्राचीन ग्रंथों में कहीं इनका उल्लेख नहीं हैं।

प्रतिष्ठा और मंडल विधानादि में इन्द्र द्वारा चतुर्णिकाय देवों का आह्वान और विसर्जन करना शास्त्रों में बताया है जो संगत है परन्तु वेदी में अरहंतादि की प्रतिमा एवं धातु के पंचमेरू विराजमान रहते भी ठूणे में इन का आह्वान-विसर्जन करना बिलकुल असंगत है। मनीषियो को विचार कर योग्य सुधार करना चाहिये। विशेष के लिये "जैननिबंध-रत्नावली" का ३४ वां निबंध "पंचोपचारी पूजा" द्रष्टव्य है।

१६. सुष्ठु आहूयंते देवा अनेन इति स्वाहा।

अथवा ठूणे आदि में पुष्पक्षेपण किया जाता है यह पूजा नहीं है किन्तु आह्वानमात्र है।

'स्वाहा' शब्द का प्रयोग मंत्र की पूर्ति के लिए भी होता है यानि आखिर में 'स्वाहा' लिखकर उस मंत्र की समाप्ति की सूचना दी जाती है यथा-ॐ ह्रीं श्रीपीठं स्थापयामि स्वाहा। ॐ ह्रीं कलशोद्धरणं करोमि स्वाहा। (अभिषेक पाठ संग्रह पृ. ४२--४४)

इस विषय में विशेष जिज्ञासुओं को "महावीर जयन्ती स्मारिका १९७०" में प्रकाशित हमारा लेख--"पीठिकादि मंत्र और शासनदेव" देखना चाहिये।

प्रश्न—अकृत्रिम चैत्यालयों की पूजा में लिखा है--"वंदे-भावन व्यन्तरान् द्यु तिवरान् कल्पामरान् सर्वगान्" इसमें चतुर्णिकाय देवों को नमस्कार बताया है। यह कैसे ?

उत्तर—यह पाठ ही अशुद्ध है शुद्ध पाठ जैन सिद्धांत भवन, आरा आदि ग्रन्थ भंडारों की हस्तलिखित प्रतियों में इस प्रकार है:—

"वंदे भावन व्यंतर द्यु तिवर स्वर्गामरावासगान्"। अर्थात्—भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिष्क और कल्पवासी देवों के आवासों में विद्यमान अकृत्रिम चैत्यालयों को नमस्कार हो। पूजा का नाम भी "कृत्रिमाकृत्रिम चैत्यालय पूजा" है पूजा के अंत में जो मंत्र भाग दिया है उसमें भी यही नाम दिया है देखो—"ॐ ह्रीं त्रिलोक संबंधि कृत्रिमाकृत्रिम चैत्यालयेभ्योऽर्घं निर्वपामीति स्वाहा"। कहीं भी चतुर्णिकाय देवों की वंदना-पूजा नहीं बताई है। किन्तु सर्वत्र चतुर्णिकाय देवों के निवास स्थानों में विद्यमान अकृत्रिम चैत्यालयों की वंदना-

पूजा बताई है। उपर्युक्त पूजा के श्लोक नं, ३ और ५ में भी पुनः यही प्ररूपरण किया है :—

वनभवन गतानां दिव्यवैमानिकानां।
जिनवरनिलयानां भावतोऽहं स्मरामि ॥३॥
……………………व्यंतरे स्वर्गलोके।
ज्योतिर्लोकेऽभिवंदे भवनमहितले यानि चैत्यालयानि ॥५॥

यही बात 'मंगलाष्टक' में बताई है देखो—

ज्योतिर्व्यन्तर भावनामरगृहे……
जिनगृहाः कुर्वन्तु ते मंगलं ॥७॥

चैत्य भक्ति में भी देखो—

भवनविमान ज्योतिर्व्यंतर नरलोक विश्व चैत्यानि।
त्रिजगदभिवंदितानां वंदे त्रेधा जिनेन्द्राणाम् ॥८॥[१७]

प्रश्न—'जिनयज्ञ कल्प' अध्याय ४ श्लोक २१७ में लिखा है—सर्वाणि सैष निहताद् दुरितानि नोऽर्हन् ॥ अर्थात्—वे अरहंत हमारे सब पापों को नष्ट करें। इसी तरह श्लोक २१६ में शासन देवता के लिए भी लिखा गया है कि—'निवारयंती दुरितानि नित्यं'। इससे शासन देवता की पापनाशकता यानि पूज्यता सिद्ध होती है।

उत्तर—श्लोक २१६ में दुरितानि' का अर्थ 'पाप' नहीं है किन्तु 'विघ्न' है। अर्थात्—शासन देवता को विघ्न निवारण

१७. नेमिचन्द्रकृत 'प्रतिष्ठा तिलक' अध्याय ७ पृ. २७६ में भी ऐसा ही बताया है देखो—

भवनज वनजानां ज्योतिषां कल्पजानां, मणिमयनिलयस्था येऽहमिन्द्रालयस्थाः।

बहुविभव युताः हि ये च मध्ये त्रिलोकीं जिनपति निलयांस्तांस्तांश्च सर्वान्महामि ॥

करने वाली बताया गया है इसी से श्लोक २१७ की तरह निहताद् (नाश करें) क्रिया का प्रयोग न करके श्लोक २१६ में निवारयंती (दूर करने वाली) साधारण क्रिया का प्रयोग किया है।

अगर शासन देवता को पापनाशिनी माना जायेगा तो वह बिल्कुल संगत नहीं होगा क्योंकि इन देवों के स्वयं के ही पाप (कर्म बंध) नष्ट नहीं हुए हैं तो ये दूसरों के पाप कैसे नष्ट कर सकते हैं। यह पापनाश अर्थ तो जिनेन्द्र के ही साथ संगत होगा। शासन देवता के साथ तो विघ्ननिवारण अर्थ ही संगत होगा। शास्त्रों में भी विघ्ननिवारण के रूप में ही इनका वर्णन किया गया है।

आशाधर ने तो शासन देवों को कुदेव और अवंद्य लिखा है देखो 'अनगार धर्मामृत' अध्याय ८—

श्रावकेणापि पितरौ गुरु राजाप्यसंयता।
कुलिंगिनः कुदेवाश्च न वंद्यासोऽपि संयतैः ॥५२॥

(स्वोपज्ञ टीका—कुदेवाः=रुद्रादयः, शासनदेवतादयश्च)

यह श्लोक 'मूलाचार 'अ. ७गाथा ९५ के अनुसार बनाया गया है, इस गाथा की संस्कृत टीका में वसुनंदि ने भी नाग यक्षादि समग्रदेव जाति को अवंद्य वताया है।

आशाधर ने 'सागारधर्मामृत' अध्याय ३ श्लोक ७ में लिखा है कि—दर्शनिक श्रावक आपत्ति आने पर भी उसके निवारण के लिए शासनदेवतादि की कभी भी उपासना नहीं करता। सिर्फ पंचपर -मेष्ठी की ही शरण ग्रहण करता है। (अर्हदादि पंच गुरु चरणेषु

अन्तर्दृष्टि यस्य स आपदाकुलितोऽपि–दर्शनिकस्तन्निवृत्यर्थं शासनदेवतादीन् कदाचिदपि न भजते)

प्रतिष्ठासारोद्धार में भी आशाधर ने लिखा हैः—

नाभेयाद्य पसव्यपार्श्वे विहितन्यासांस्तदाराधकान् ।
अव्युत्पन्नदृशः सदैहिकफल प्राप्तीच्छयार्चन्ति यान् ॥१२७॥

अध्याय ३

अर्थात्—ऋषभादि तीर्थंकरों के दायें पार्श्व में स्थित और तीर्थंकरों के भक्त ऐसे शासन देवों को कमजोर श्रद्धा वाले नासमझ लोग ही लौकिक फलाकांक्षा से पूजते हैं ।

अव्युत्पन्नदृशां शांतक्रूरैहिक फलार्थिनां ।
मंत्रवीर्य प्रकाशार्थं मंत्रवादे स दर्शितः ॥४३॥

अध्याय ६

अर्थात्—शासन देवताओं की प्रतिष्ठापना मंत्रवीज के प्रकाशनार्थ मंत्र शास्त्रों में ही बताई गई है इनकी उपासना तामसी लौकिक फलाकांक्षी जिन्हें सम्यक्त्व पैदा नहीं हुआ है ऐसे अविवेकी मनुष्य ही करते हैं ।

भगवत्कुन्दकुन्द ने मोक्षपाहुड में लिखा है—

कुच्छियदेवं धम्मं कुच्छियलिंगं च वंदए जोदु ।
लज्जाभयगारवदो मिच्छादिट्ठी हवे सोहु ॥९२॥

अर्थात्—भयादि से भी जो कुदेव कुधर्म कुगुरु की वंदना करता है वह मिथ्यादृष्टि होता है ।

इसकी श्रुतसागरी टीका में यक्षादि को कुदेव के अन्तर्गत लिया है और उन्हें अवंद्य बताया है ।

सपरावेक्खं लिंगं राई देवं असंजदं वंदं।
मण्णइ मिच्छादिट्ठी णहुमण्णइ सुद्ध सम्मत्ती।९३

अर्थात्—कुगुरु, रागी देव और असंयमी को जो वंदनीय मानता है वह मिथ्यात्वी है शुद्ध सम्यक्त्वी नहीं।

बृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा ४१ की ब्रह्मदेवजी कृत टीका में लिखा है:—

"रागद्वेषोपहतार्तरौद्रपरिणत क्षेत्रपाल चंडिकादि मिथ्या-देवानां यदाराधनं करोति जीवस्त-द्देवमूढत्वं न च ते देवा किमपि फलं प्रयच्छंति। कथमितिचेत्? रावणेन रामलक्ष्मण विनाशार्थं बहुरूपिणी विद्यासाधिता कौरवैस्तु पांडव निर्मूल-नार्थं कात्यायनी विद्या साधिता कंसेन च नारायण-नाशार्थं बह्व्योऽपि विद्या साधिता। ताभि: कृतं न किमपि रामपांडव नारायणनां। तैस्तु यद्यपि मिथ्या देवता नानुकूलिता: तथापि निर्मल सम्यक्त्वोपार्जितेन पूर्वंकृतपुण्येन सर्वं निर्विघ्नं जात मिति।

अर्थात्—रागीद्वेषी आर्त्तरौद्र परिणामी क्षेत्र पालादि मिथ्यादेवों की जो जीव आराधना करता है वह देवमूढ है। ये मिथ्यादेव कुछ भी लाभ नहीं पहुँचा पाते। यह कैसे? यह ऐसे कि—रावण ने राम-लक्ष्मण के विनाश के लिये बहुरूपिणी विद्या सिद्ध की, कौरवों ने पांडवों को खतम करने के लिये कात्यायनी विद्या सिद्ध की, और कंस ने श्रीकृष्ण को मारने के लिये बहुत सी विद्यायें सिद्ध की किन्तु वे विद्यायें राम-पांडव-श्रीकृष्ण का कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सकी। इसके विपरीत राम-पांडव-श्रीकृष्ण ने इन मिथ्या विद्या देवताओं की कोई

आराधना नहीं की तो भी उनके निर्मल सम्यक्त्व और पूर्वकृत पुण्य से उनके सर्व कार्य निर्विघ्न सम्पन्न हो गये।

प्रश्न:—तब फिर शुभचन्द्रकृत पांडवपुराण के पर्व २० में अर्जुन द्वारा देवता की आराधना और उससे सहायता की प्रार्थना का वर्णन कैसे किया गया है? देखो—

स्थितस्तत्र स धैर्येण दध्यौ शासनदेवतां।
आराधितो मया धर्मो जिनदेवः सुसेवितः ।८२।

गुरुश्च यदि प्राकट्यं भज शासनदेवते।
इति ध्यायन् जिनं चित्ते स्थितोऽसौ स्थिर मानसः।८३।

उत्तर:—इन श्लोकों का पूरा अर्थ इस प्रकार है—

"अर्जुन वहां (चबूतरे पर) धैर्यपूर्वक बैठ गया और शासन-देवता को इस प्रकार सम्बोधन किया कि अगर मैंने धर्म का आराधन किया हो, अर्हन्त और गुरु की सेवा की हो तो तू प्रकट हो। फिर स्थिर मन से जिनेन्द्र का ध्यान करने लगा।"

इसमें शासनदेवता की कोई आराधना नहीं बताई है। आराधना तो धर्म की और सेवा अर्हन्त गुरु की तथा ध्यान जिनेन्द्र का बताया है। अर्जुन ने शासनदेवता से सहायता की भी याचना नहीं की है। आगे के श्लोक ८५-८६ में बताया है कि शासनदेवता ने प्रकट होकर अर्जुन से कहा कि मैं तुम्हारी किंकर हूं मेरे लिए जो आदेश हो वह बताओ।' इससे शासन-देवता अर्जुन की सेवक सिद्ध होती है अर्जुन उसका सेवक नहीं।

प्रश्न—पूज्यता संयम से होती है और देवगति में संयम होता नहीं अतः सभी चतुर्णिकाय के देव अपूज्य हैं तो फिर

अग्नित्रय और निर्वाण क्षेत्रादि में संयम हेतु न रहने पर भी पूज्यता कैसे है ? अगर यह कहा जाय कि महापुरुषों के संसर्ग[१८] से अग्नित्रय और निर्वाण क्षेत्रादि पूज्य हो जाते हैं तो सदा तीर्थंकरों के पास रहने वाले, जिनभक्त, जिनशासनरक्षक शासनदेव क्यों पूज्य नहीं ?

उत्तरः—यहां सचेतन से अचेतन की तुलना की गई है इससे विरोध विषमता पेदा हो गई है। पूज्यता में संयम हेतु सचेतन (पंचेन्द्रिय) की अपेक्षा से बताया है अचेतन (स्थावर) की अपेक्षा से नहीं। जिस प्रकार पत्थर की प्रतिमा अचेतन-असंयमी होने पर भी प्रतिष्ठित पूज्य भगवान् हो जाती है। किन्तु कोई सचेतन-देव नारकी पशु गृहस्थ मनुष्य भगवान् पूज्य नहीं होता क्योंकि अचेतन शुद्ध वस्तु में ही संकल्प सद्भाव स्थापना होती है सचेतन (पंचेन्द्रियादि अशुद्ध) में नहीं । एक म्यान में जैसे दो तलवार नहीं समाती उसी तरह शासनदेवों में यक्षत्व (असंयम) और पूज्यत्व [संयम[दोनों कभी नहीं रह सकते एक यक्षत्व ही रहेगा। सफेद कागज पर कुछ भी लिखा जा सकता है लिखे हुए पर नहीं। सोमदेव ने भी यशस्तिलकचम्पू में लिखा है—संकल्पोऽपि दलफलोपला दिष्विव न समयान्तर प्रतिमासु विधेयः। यतः—

---

१८. पावनानि हि जायन्ते स्थानान्यपि सदाश्रयात्।
सद्भिरध्युषिता धात्री संपूज्येति किमद्भुतम् ॥
कालायसं हि कल्याणं कल्पते रसयोगतः।
—क्षत्र चूड़ामणि (लम्ब ६)

इक्षो विकार रस पृक्त गुणेन लोके, पिष्टोधिकं मधुरतामुपयाति यद्वत्।
तद्वच्च पुण्य पुरुषै रुषितानि नित्यं, जातानि तानि जगतामिह पावनानि ॥३१॥ —निर्वाणभक्ति (पूज्यपादकृत)

शुद्धे वस्तुनि संकल्पः कन्याजन इवोचितः
नाकारान्तर संक्रांते यथा पर परिग्रहे ॥२३॥

अष्टम आश्वास

[संकल्प पत्रफल पत्थरादि में ही होता है दूसरों की प्रतिमाओं में नहीं। जिस तरह कन्या ही में पत्नी का संकल्प होता है क्योंकि वह शुद्ध है दूसरों की विवाहिता में पत्नी का संकल्प नहीं होता] इसी तरह पार्श्वनाथ की मूर्ति तो पूज्य मानी जाती है, किन्तु किसी मनुष्य देवादि को पार्श्वनाथ भगवान् मानकर नहीं पूजा जाता। लोक में भी देखा जाता है कि किसी देश के राजा की मूर्ति [स्टेच्यू] बनाकर सम्मान करे तो राजा उस पर खुश होता है किन्तु किसी पुरुष को उस देश का राजा मानकर कोई राज्य व्यवहार करे तो वह राजा द्वारा दंडनीय होता है।

अग्नित्रय और निर्वाणक्षेत्रादि शुद्ध होने से उनमें तीर्थंकरों के संसर्ग से पूज्यता का प्रवेश हो जाता है किन्तु यक्षदेव पर्याय (असंयमी) अशुद्ध होने से उनमें तीर्थंकरों के सान्निध्य से भी पूज्यता नहीं आती यह तो द्रव्य-स्वभाव है इसमें कोई कुछ नहीं कर सकता। हीरे का पत्थर शाण पर चढ़ाने से चमकदार रत्न हो जाता है किन्तु साधारण पत्थर लाख शाण पर चढ़ावो कभी चमकदार रत्न नहीं होता।

नवदेवों में सजीव पंच परमेष्ठी अलग बताये हैं। और उनकी अचेतन मूर्ति तथा—मंदिर अलग बताये हैं तीनों पूज्य बताये हैं किन्तु नवदेवों में न तो कोई देवगति का देव बताया है और न उनकी कोई मूर्ति और मंदिर बताये हैं अतः शासनदेव साक्षात् हों चाहे उनकी कोई मूर्ति और उनका कोई मंदिर हो

तीनों कभी भी पूज्य नहीं हैं। उनको पूज्य मानना जिन शासन की बगावत है।

पास में रहने से जैसे नौकर मालिक नहीं होता अथवा गंगा में बहने से मछलियां और मगर पवित्र नहीं होते उसी तरह शासन देव भी पूज्य पवित्र नहीं होते। इसी तरह भक्ति और रक्षण हेतु में भी कोई दम नहीं है यह तो तिर्यंच और मनुष्य भी करते है इसी से शासनदेवों को पूज्य माना जायेगा तो फिर तिर्यंच मनुष्य सभी पूज्य हो जायेंगे। अतः किसी भी युक्ति प्रमाण से शासन देव पूज्य सिद्ध नहीं होते। उनकी पूज्यता के लिए आजतक जितने युक्ति और प्रमाण दिये गए हैं वे सब युक्त्याभास और प्रमाणाभास हैं—सब गलत और मिथ्या हैं।

प्रश्न—वसुनंदिप्रतिष्ठासार संग्रह में लिखा है—

नंद्यावर्त्तं प्रदीपं च दिशास्वष्टासु पूजयेत् ।।
अध्याय ६

कृत्वा महोत्सवं तत्र पूजयेत् कुम्भ पंचकं ।।३४।।
अध्याय ३

इनमें नंद्यावर्त्त, प्रदीप और पंचकुंभों को पूजने की बात लिखी है यह कैसे ?

उत्तरः—इन श्लोकों के आगे लिखा है "इति मंगलद्रव्य स्थापनं" इससे पूजन का तात्पर्य इन मंगलद्रव्यों के स्थापन से है आगे के श्लोकों में भी स्पष्ट 'निवेशयेत्, विन्यसेत्, स्थाप्याः' शब्दों के प्रयोग किये गए हैं जिससे सिद्ध है कि इन

मंगलद्रव्यों को यथास्थान स्थापित करना ही उनका पूजन है। श्लोक ३४ में पूजयेत् के स्थान में 'पुंजयेत्' पाठ भी संभव है जिसका अर्थ होगा—५ कलशों को (पंचघटों को) एक जगह (एकत्र) रखें।

प्रश्न—महापुराण पर्व २४ में आठध्वजाओं को जलगंधादि द्रव्यों से पूजना बताया है देखो—

ततो द्वितीय पीठस्थान् विभोरष्टौ महाध्वजान्।
सोऽर्चयामास संप्रीतः पूतैर्गंधादिवस्तुभिः ॥२०॥

यह कैसे ?

उत्तर—मूल में जलद्रव्यों का वाची कोई शब्द नहीं है अतः जलादि अष्टद्रव्यों से ध्वजाओं को पूजना सिद्ध नहीं होता। मूल में तो पवित्र गंधादि (सुगंधित) द्रव्यों से पूजना बताया है जिसका तात्पर्य यह है कि ध्वजाओं के पास सुगंधित द्रव्य रखे गए जिससे वह स्थान सुरभित हो गया।

ध्वजा धर्मचक्रादि का अन्य रूप से भी पूजन सत्कार करे तो भी वह आपत्तिजनक नहीं है क्योंकि ये तीर्थंकर की समवशरण विभूति के अंग होने से धार्मिक क्षेत्र में आ जाते हैं अतः संमान्य समादरणीय हो जाते हैं।

प्रश्न—एक मुद्रित 'वसुबिंदु प्रतिष्ठापाठ' है जिसे जयसेन प्रतिष्ठापाठ भी कहते हैं इनके कर्त्ता का सही नाम क्या है ? यह कितना प्राचीन ग्रन्थ है ?

उत्तर—इस प्रतिष्ठापाठ के अन्त में लिखा है—

वासवेन्दुरिति प्राहुस्तदादि गुरवो मतः।
जयसेन पराख्यां मां तन्नमोऽस्तु हितैषिणां ॥९२६॥

इस श्लोक में ग्रन्थकर्त्ता का नाम वासवेन्दु=वासवचन्द्र (वासव+इन्दु) दिया है यह सही नाम है वसुबिन्दु जो प्रचलित नाम है वह अशुद्ध-गलत है । वासवेन्दु नाम योगीन्दु (योगिचन्द्र) कुमुदेन्दु (कुमुद चन्द्र) नामों की तरह उन्हीं की शैली का चन्द्रान्त नाम है। वासवेन्दु का अपर नाम इस श्लोक में जयसेन भी दिया है। इसी से इस ग्रन्थ का नाम जयसेन प्रतिष्ठापाठ भी प्रसिद्ध है।

आशाधर ने अपने प्रतिष्ठापाठ के अध्याय २ में 'महर्षि पर्युपासन, के अन्तर्गत दिगम्बर वासवेन्दु को भी अर्घप्रदान किया है देखो—

प्रभाचन्द्रं रामचन्द्रं वासवेन्दु मवाससं ॥ ११५॥
वीरांग जातानर्घेण सर्वान् संभावयाम्यहं ॥ ११६॥

ये वासवेन्दु उक्त प्रतिष्ठापाठ के कर्ता ही ज्ञात होते हैं अतः ये आशाधर (१३वीं शती) से पूर्व के प्राचीन ग्रन्थकार हैं। ग्रन्थ की रचनाशैली बड़ी सुन्दर और प्रसादमयी है इस ग्रन्थ की शुद्ध प्राचीन हस्तलिखित प्रति की खोज होनी चाहिये।

भवनवासी, व्यंतर ज्योतिष्क ये ३ भवनत्रिक देव कहलाते हैं। दिग्पाल शासनदेव इन्हीं में से हैं। त्रिलोकसार गाथा ४५० में लिखा है कि—

जो जीव विपरीत धर्म पालते हैं, अग्निजलादि से मरते हैं, भोगाकांक्षा से धर्माराधन करते हैं, कष्ट पूर्वक मरते हैं, पंचाग्नि आदि कुतप करते हैं, सदोष चारित्र पालते हैं, वे इन भवन-त्रिकों में जन्म लेते हैं। (और वहां भी अपर्याप्त काल में तो सभी नियम से एक मिथ्यात्व दशा में ही रहते हैं)

तिलोयपण्णत्ती अध्याय ३ गाथा २०४ में बताया है कि–

तीर्थंकर-संघ-आगमादि से प्रतिकूल मति रखने वाला दुर्विनयी, मायाचारी जीव किल्विष जाति के भवनत्रिकों में जन्म लेता है। सम्यक्त्वी जीव भवनत्रिकों में कभी जन्म नहीं लेता।

शासनदेवों को न पूजे तो कोई हानि नहीं है। जहां इनकी पूजा की गई है वहां भी विघ्न हुए हैं। और जहां इनकी पूजा नहीं की गई है वहां भी सब कार्य सिद्ध (सफल) हुए हैं तब फिर इनकी पूजा रूपी मिथ्यात्व के सेवन करने में क्या लाभ और क्या समझदारी ? अर्थात् कुछ भी नहीं।

बिना पूजन नमस्कार किये ये शासनदेवता रक्षणादि नहीं करते हों ऐसी भी कोई बात नहीं है। ये तो सम्यक्त्वी व्रती पुरुषों के गुणों से आकृष्ट हो स्वयं उनकी सेवा करते हैं यह इनकी ड्यूटी ही है। इनकी पूजा सेवा करना तो इन्हें रिश्वत देना है जो देने लेने वाले दोनों के लिये जिनशासन में जुर्म है।

एक तरफ तो यक्षादिक को शासनदेवता-रक्षक माना जाता है और दूसरी तरफ इन्हीं भूतप्रेत व्यंतर नवग्रहादि के उपद्रवों की शांति के लिए शांति विधान किए जाते हैं। यह विडंवना और परस्पर विरुद्धता कैसे ? इससे भी शासनदेव पूजा में कोई तत्व (तंत) सिद्ध नहीं होता इसी से विद्वज्जन-बोधक खंड १ पृष्ठ २०६ से २१४ में शासन देवों का आह्वान विसर्जन तो माना है किन्तु पूजन नमस्कार का निषेध किया है जो योग्य है।

फिर भी शासनदेवों को पूज्य और इनकी पूजा को विधेय माना जायेगा तो निम्नांकित आपत्तियां खड़ी होंगी :—

(i) सौधर्मेन्द्र बना मुख्य पूजक अपने से हीन और किंकर भवनत्रिक देवों की पूजा कैसे करेगा ? तथा स्वयं अपनी भी पूजा कैसे करेगा[१६] ?

(ii) तप-ज्ञान मोक्षादि कल्याणकों में इन्द्रादिदेव आते हैं समवशरण में भी सब देव बैठे रहते हैं तब वहां तो इन्द्र ने शासनदेवतादि की पूजा कहीं की नहीं । प्रथमानुयोगादि किसी ग्रन्थ में ऐसा नहीं लिखा है तब यहां ही उनकी पूजा कैसे संभव है ?

(iii) अगर देवदेवियों की पूजा का विधान ग्रन्थकारों को इष्ट होता तो वे अर्हत्पूजा के बाद इनकी पूजा का कथन करते अर्हत्पूजा के पूर्व नहीं ।

(iv) कल्याणक महोत्सव तो जिनेन्द्र का और सर्वप्रथम पूजा देवदेवियों की यह तो स्पष्ट ही विरुद्ध और असंगत क्रिया

१६. इस आपत्ति का उत्तर यह दिया जाता है कि—"पूजा में जो इन्द्र बना है वह स्थापना निक्षेप से है इसलिए वह यह भी नही भूल जाता कि—भावइन्द्र की पूजा मुझे करनी है ।" इस उत्तर में 'सौधर्मेन्द्र अपने से हीन भवनत्रिक देवों की पूजा कैसे करेगा' इस आपत्ति का कोई उत्तार नहीं दिया गया है इसे छोड़ दिया गया है क्योंकि इसका कोई उत्तर ही संभव नहीं है । आपत्ति के दूसरे भाग का जो उत्तर दिया गया है वह भी ठीक नहीं है वह भी आपत्तिजनक है क्योंकि—भावइन्द्र चतुर्थ गुणस्थानी ही है और भावपूजक श्रावक पंचम गुणस्थानी है । पंचम (उच्च) गुणस्थानी भावइन्द्र (नीचे के गुणस्थानी) की कभी पूजा नहीं कर सकता । इस तरह इन्द्र भी चाहे भाव से हो चाहे निक्षेप से हो वह अपने से हीन देवों की और स्वयं अपनी कभी भी पूजा नहीं कर सकता ।

है। यह तो "विवाह किसका और गीत किसके" इस कहावत को चरितार्थ करता है।

(v) इन्द्र के पास द्रव्यों की कोई कमी नहीं थी जो वह अर्हत्पूजा के द्रव्य में से ही इन देवदेवियों की पूजा करता। अगर उसे देवदेवियों की पूजा ही करनी होती तो वह अलग प्रवंध कर सकता था।

(vi) देवदेवियों के लिये जो "इदं नैवेद्य गृहाण" (यह नैवेद्य ग्रहण करो) लिखा है सो जैनधर्म में तो देवों के कवलाहार नहीं वताया है उनके तो मानसिक अमृत आहार बताया है। अतः देवदेवियों को नैवेद्यादि ग्रहण कराना और वे नैवेद्यादि ग्रहण करते हैं (उपात्त वल्यर्चना ।।१०८।। नित्यमहोद्योत, लब्धभागा यथाक्रमं ।। विसर्जनपाठ) ऐसा अर्थ प्ररूपित करना सिद्धान्त विरुद्ध और असंगत है[२०]।

२०. प्रति प्रश्नः—अर्हन्त प्रभु भी कवलाहारी नहीं है तव उनके नैवैद्य क्यों चढ़ाया जाता है?
प्रत्युत्तर—न तो अर्हन्त को नैवेद्य ग्रहण कराया जाता है और न किसी शास्त्र में ऐसा लिखा है कि—वे नैवेद्य ग्रहण करते हैं। "क्षुधारोग विनाशाय नैवेद्यं निर्वपामीति स्वाहा" यह मंत्र बोलकर अर्हन्त के सामने नैवेद्य चढ़ाया जाता है। इसमें नैवेद्य क्षुधा की तृप्ति के लिये नही है किन्तु क्षुधा के नाश के लिए है वह भी गृहाण (ग्रहण करो) इस रूप में नहीं है किन्तु निर्वपन (त्याग) रूप से है। अर्थात् पूजक अपने क्षुधा रोग के नाश के लिए जिनेन्द्र के सामने नैवेद्य का निर्वपन-त्याग करता है। इसमें जिनेन्द्र के साथ नैवेद्य आदि का कोई संवंध नहीं है वे तो सिर्फ एक तरह से साक्षी रूप में हैं।

जिस तरह पायजामा के उपयोग से अजानकार पाजामा के दोनों हिस्सों को पैरों में न डालकर हाथों में डाल ले और शेष भाग को कमर में न डालकर गले में डाल के बांध ले वही उलटी हालत आज अनेक क्रिया कांडों के सही विधान को नहीं समझने के कारण हो रही है। इससे परस्पर विसंवाद वढ़ रहे हैं और शास्त्रों में अनेक असंगतियां, पूर्वापरविरुद्धता एवं अप्रमाणता उत्पन्न होकर जैनाचार्यों के कथनों पर अश्रद्धा बन रही है। यही हालत शासनदेव-पूजा के सम्बन्ध में है। शासनदेवों को अर्घसमर्पण का अब तक ठीक सुसंगत अर्थ ग्रहण न हो पाने से ही इस विषय में भी अनेक विसंवाद और असंगतियां प्रवर्त्तमान हैं अतः हमने जो पूर्व में शासनदेव पूजा का रहस्यार्थ (शासनदेवों द्वारा अर्हत्पूजा यानि देवताओं का आह्वान और उन्हें अर्घसमर्पण जिनपूजार्थ ही होता है) बताया है उसे ग्रहण करने पर किसी भी प्रकार की कोई भी आपत्तियां कतई नहीं उत्पन्न होती। और सब कथनों की सहज संगति होजाती है। इससे 'न सांप मरे न लाठी टूटे' वाला काम हो जाता है। एवं सब विसंवाद समाप्त हो जाते हैं और इस विषय में प्रायः किसी ग्रन्थ को अप्रमाण करने की भी जरूरत नहीं रहती। जिन शास्त्रों में शासनदेव-पूजा लिखी है अब तक उन शास्त्रों को अप्रमाण मान कर शासनदेव पूजा का निषेध किया जाता रहा है किन्तु हमने इस निबन्ध में उन शास्त्रों को अप्रमाण करार न करके उन शास्त्रों के रहस्यार्थ को प्रकट करने का प्रयत्न किया है।

जैसे शास्त्रों को अप्रमाण करने का प्रयत्न 'चर्चा सागर' (पांडे चंपालाल जी कृत) में भी किया गया है वहां पृष्ठ ५ में रविषेण कृत पद्म पुराण को काष्ठासंघी और अमान्य बताया है इसी

तरह पृष्ठ ४८२ में पांडे रूपचन्द कृत पंच मंगल को भी काष्ठा संघी और अमान्य बताया है। इस संबंध में पृष्ठ ४४४ में लिखा है कि—इन जैनाभासों के ग्रन्थ सम्यग्ज्ञानियों को श्रद्धान करने योग्य नहीं है।

कुछ भाई यह सोचते हैं कि–दूसरे धर्मों के कुदेवों को नहीं पूजकर अपने धर्म के कुदेवों को पूजा जाय तो क्या हानि है ? किन्तु यह सोचना बहुत ही भूलभरा है क्योंकि जहर दूसरों के घर का खावो चाहे अपने घर का खावो वह तो मृत्यु को ही प्राप्त करायेगा। इनके सिवा शास्त्रों में यह नहीं बताया है कि—अमुक देव तो जिन शासन के हैं और अमुक देव अन्य शासन के किन्तु सब ही जिनशासन के ही वताये हैं।

जैनधर्म में शिथिलाचार और मिथ्यात्व[२१] को कोई स्थान नहीं है क्योंकि नाव में छोटा सा भी छिद्र हो जाने पर उससे

---

२१. मिथ्यात्व को प्रथम गुणस्थान में माना है इससे वह गुण-कोटि में आता है फिर उस का निषेध क्यों ? उत्तर-मिथ्यात्व वास्तव में गुण रूप नहीं है उसे पुद्गल की अपेक्षा से जीव का गुण माना है। जीव की अपेक्षा तो वह सव अवगुणों की जड़ है उसके रहते जीव में कोई गुण प्रस्फुटित नहीं हो सकते उसका मोक्ष मार्ग ही वंद हो जाता है उससे वढ़ कर जीव का कोई शत्रु नहीं है। दूसरी वात यह है कि—जिस तरह सोना खान से अशुद्ध ही निकलता है उसी तरह इस जीव के साथ भी शुरू से ही मिथ्यात्व लगा रहता है वह एक तरह से जीव की मूल प्रकृति रूप हो जाने से जड़ की अपेक्षा गुण मान लिया गया है वस्तुतः वह जीव का मल और विकार ही है। उसके हटाने पर ही जीव में धर्म का प्रारंभ होता है।

धीरे-धीरे पानी भर कर नाव ही डूब जाती है उसी तरह छोटी सी भी शिथिलता आगे भयंकर रूप धारण कर लेती है।

अपनी धुरी से डिगने पर मनुष्य को अनेक संकट उठाने पड़ते हैं जैसे—लक्ष्मणरेखा से बाहर निकलने पर सीताजी का हरण हुआ और रामचन्द्रजी व रावण में महान् युद्ध हुआ जिसमें असंख्य प्राणी मारे गये।

अतः जिस तरह क्षुधानिवृत्ति के लिए कोई भी समझदार जहर नहीं खाता और भ्रष्ट ग्रन्थों के कथन से विष्टा ग्रहण नहीं करता उसी तरह विवेकियों का कर्त्तव्य है कि—वे भी किसी भी दृष्टि से शासनदेव पूजा रूप मिथ्यात्व का कभी सेवन नहीं करें।

अन्त में विद्वानों और पाठकों से प्रार्थना है कि—वे इस निबंध पर पूर्ण गंभीरता के साथ विचार करने की कृपा करें और उन्हें यह उचित एवं उपयोगी प्रतीत हो तो वे इसका प्रचार प्रसार करें।

इस विषय में किन्हीं को किसी भी प्रकार की शंका उत्पन्न हो तो वह इस निबंध को आद्योपान्त पुनः पढ़ने का कष्ट करें उनकी शंका का समाधान इसी में से उन्हे स्वतः हो जायेगा फिर भी कदाचित् समाधान न हो तो वे हमें लिखकर पूंछ सकते हैं हम तत्काल उन्हें उत्तर देंगे।

उपासना नैव विना विवेकं ।
विनागमं नैव विवेकभानुः ।
ततो विवेकाय सदागमानां ।
रहस्यलाभे सततोद्यमी स्याः ॥

यथाखरश्चंदन भारवाही, भारस्यवेत्ता न तु चन्दनस्य ।
तथा हि शास्त्राणि बहून्यधीत्य, सारं न जानन्खरवद्वहेत्सः ॥



इति शम् ।



॥ श्रीः ॥

शास्त्र-मर्म

१– ण हु सासण भत्तीमेत्तएण सिद्धंत जाणगो होइ ।
ण हु जाणगोंत्ति णियमा पण्णवणा-णिच्छिदो णाम ॥ ३-६३

(शासन में भक्ति होने मात्र से कोई सिद्धान्त का ज्ञाता नही हो जाता तथा ज्ञाता होने मात्र से कोई प्रज्ञापना में यथार्थता को प्राप्त नही हो जाता)

२– सुत्तं अत्थणिमेणं ण सुत्तमेत्तेण अत्थ पडिवत्ती ।
अत्थ गदी पुण णय वाद गहण लीणा दुरधि गम्मा ॥ ३-६४

(यद्यपि सूत्र ही अर्थ का आधार है किन्तु मात्र सूत्र से अर्थ-प्रतिपत्ति =सत्यार्थ निश्चय नही होता क्यों कि—अर्थ की गति नयवाद रूपी बीहड़ में लीन है अतः (जन साधारण के लिए शास्त्र का रहस्य) दुर्बोध है)

३– तम्हा अहिगद सुत्तेण अत्थ संपादणम्मि जइयव्वं ।
आयरिय-धीर हत्था हंदि महाणं विडंबेंति ॥ ३-६५

(इसलिये सूत्र—पाठी को सूत्रों के सत्यार्थ संपादन में यत्न करना उचित है। आचार और विवेक से भ्रष्ट ही जिन-शासन को दूषित करते हैं :— पंडितैर्भ्रष्टचारित्रैर्बठरैश्चतपोधनैः, शासनं जिन चन्द्रस्य निर्मलं मलिनीकृतं)

४– परवत्तव्वय पक्खा अवि सिट्ठा तेसु तेसु सुत्तेसु ।
अत्थ गइए उ तेंसि विअंजणं जाणगो कुणइ ॥ २-१८

(उन आगम सूत्रों में कहीं कहीं परमतवक्तव्यपक्ष भी ग्रथित है विशेषज्ञ ही अर्थ—गति के द्वारा उनका प्रकाशन (रहस्योद्घाटन) करते हैं, अन्य नहीं) —सन्मति सूत्र (सिद्धसेनाचार्यकृत)

५– अस्त्रधारणवद् बाह्ये, क्षेत्रे हि सुलभाः नराः ।
यथार्थं ज्ञान संपन्नाः, शौण्डीरा इव दुर्लभाः ॥

(बाहर में शस्त्रास्त्र धारण करने वालों की तरह थोथे क्रिया कांड में संलग्न पुरुष तो सुलभ हैं किन्तु युद्ध वीरों की तरह यथार्थ ज्ञानी जन संसार में दुर्लभ हैं) — यशस्तिलक चम्पू (सोमदेव कृत)

इस निबंध पर आगत कुछ—

अभिमत

१. केकड़ी के श्री कटारिया की विशेषता यह है कि—वे ग्रन्थों को अमान्य ठहराने की अपेक्षा उनका आर्ष वचनानुसार अर्थ करके दूध का दूध और पानी का पानी कर देते हैं।

शासनदेवों की पूज्यता और अपूज्यता को लेकर विवाद समाज में नया नहीं है और अब तक परिपाटी यह रही है कि—जिन ग्रन्थों में शासनदेवों की पूजा का विधान है उन्हें भट्टारक-प्रणीत कह कर अमान्य घोषित कर देना। श्री कटारिया उन ग्रन्थों की मान्यता को सुरक्षित रखते हुए उनके शास्त्र-सम्मत अर्थ निकालने में सिद्धहस्त हैं। यह विशेषता उन्हें अपने स्व० पिताजी से विरासत में मिली है। श्री कटारिया के तर्कों पर विद्वान् निष्पक्ष रूप से विचार करें।

वैसे यह तो समन्तभद्र आदि के ग्रन्थों से हस्तामलकवत् स्पष्ट ही है कि—सच्चे देवशास्त्र और गुरु के अतिरिक्त अन्यों की पूजा सम्यग्दृष्टि के लिये निषिद्ध है।

—पं० भंवरलाल पोल्याका, जैन दर्शनाचार्य

प्रधान सम्पादक—"महावीर जयंती स्मारिका" ७५ जयपुर-३

(महावीर जयंती स्मारिका ७५ पृष्ठ ४-२१ से उद्धृत)

२. महावीर जयंती स्मारिका ७५ (जयपुर से प्रकाशित) को पलटते आपका शोधपूर्ण 'शासनदेव पूजा रहस्य' लेख पढ़ा। बड़ा आनंद आया। आपको इस विशुद्ध ज्ञानाभ्यास के लिए कोटिशः बधाई!

—प्रा० खुशालचंद्र गोरावाला, काशी विद्यापीठ, वाराणसी-२

३. आपका लेख—"शासनदेव पूजा रहस्य" जो महावीर जयंती स्मारिका ७५ में छपा है, मिला।

निःसंदेह लेख शास्त्रीय प्रमाणों से युक्त है और संयत भाषा में लिखा गया है विचारकों के लिये उसमें पर्याप्त सामग्री है। किन्तु दुर्भाग्य है कि—समाज में जो ढला-चला चला आरहा है, उस पर ही चला जारहा है। विवेकपूर्ण जागृति नहीं के बराबर आई है।

—पं० **दरबारीलाल कोठिया**, वाराणसी-५
अध्यक्ष—श्री भारतवर्षीय दि० जैन विद्वत्परिषद्

४. आपका 'शासनदेव पूजा रहस्य' निबंध तर्क संगत है। आज ऐसे लेखों के प्रचार की आवश्यकता है।

—पं० **बंशीधर शास्त्री**, अहमदाबाद

५. 'शासनदेव पूजा रहस्य' लेख की कॉपी मिली, उत्तम लेख है।

—पं० **पन्नालाल साहित्याचार्य**, सागर
मंत्री—श्री भा० दि० जैन विद्वत्परिषद्

६. 'शासनदेव पूजा रहस्य' लेख मिला। लेख बहुत अच्छा है। सप्रमाण है। मैं उसे पूरा पढ़ गया हूं वह सम्बद्ध है। आपका परिश्रम सराहनीय है और आम्नाय का संरक्षण भी हुआ है। लोगों की धारणा सुधरेगी।

—पं० **परमानंद शास्त्री**, दिल्ली

७. 'शासनदेव पूजा रहस्य' लेख मिला, हमने पढ़ा है। इसमें प्रश्न—उत्तर आदि शास्त्राधार देकर विवेचन किया है जो बहुत ही उपयोगी है। आपने अच्छा संग्रह किया है।

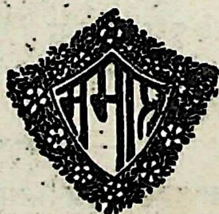
—ब्र० **हीरालाल खुशालचन्द दोशी**, फलटण (महाराष्ट्र)

८. आपका 'महावीर जयंती स्मारिका' में प्रकाशित—"शासन देव पूजा रहस्य" नामक लेख मिला। उसमें आपने प्रश्न तथा उत्तर रूप में उचित और योग्य समाधान किये हैं। तथा प्रचलित मंत्र विधि आदि का शास्त्र संमत एवं उचित अर्थ निकालकर—सच्चे वीतरागदेव के अतिरिक्त कोई भी पूजनीय नहीं इसका अच्छा स्पष्टीकरण किया है। लेख पढ़ कर प्रसन्नता हुई। आपका प्रयास अभिनंदनीय है।

—पं० श्रीपाल शिवलाल शहा, कोल्हापुर

९. 'शासनदेव पूजा रहस्य' पुस्तिका मिली। आपके सन्मति ज्ञान को धन्यवाद! सम्यग्दृष्टिजीवों की यही पहचान है। मिथ्यात्व को ही मोटा पाप श्री गुरु ने बतलाया है। आप सच्चे जिनवाणी के सुपुत्र हैं। मिथ्यात्व का प्रचार दिनों दिन बढ रहा है, दि० धर्म के रक्षक ही भक्षक हो रहे हैं। फिर भी आप जैसे धर्मात्मा सच्ची बात का प्रचार कर रहे हैं यह बहुत हर्ष और संतोष की बात है, किताब पर कीमत नहीं। नहीं तो ५० किताब मंगाकर मैं बांटता।

—पं० प्रेमराज दोशी, अजमेर।



॥ श्री: ॥

आभार प्रदर्शन



इस पुस्तक के प्रकाशन में निम्नांकित महानुभावों ने इस प्रकार आर्थिक सहयोग प्रदान किया है:—

१,	श्री दि० जैन समाज, बारां (कोटा-राजस्थान) (मारफत पं० दीपचन्द जी पांड्या, केकड़ी)	३०१) रु.
२.	श्री पं० प्रेमराज जी डोशी, अजमेर	५१) रु.
३.	श्री मास्टर रूपचन्द्रजी गंगवाल, सिराणा	३१) रु.
४.	श्री राजमल जी पदमकुमार जी लुहाड़िया, रामगंज मंडी	५१) रु.
५.	श्री मगनलाल जी हरकचन्द जी कटारिया, बिरदपुरा	५१) रु.
६.	श्री सुंदरलाल जी जैन अग्रवाल, वसूंदनी	५१) रु.
७.	मास्टर सा० श्री प्रकाशचन्द जी जैन, ब्यावर	११) रु.
	कुल योग—	५४७) रु.

एतदर्थ इन सब सद्धर्म-प्रेमी दानी सज्जनों को अनेकश: धन्यवाद !



सन्मार्ग प्रचार समिति, केकड़ी के
प्रकाशन



१.	पद्मावती पूजा मिथ्यात्व है।	५० पैसे
२.	शासनदेव-पूजारहस्य	२) रु.

शीघ्र प्रकाश्यमानः

३.	जैनधर्म में रात्रि पूजा का निषेध	१) रु.
४.	कन्द मूल और भक्ष्याभक्ष्यता	२) रु.
५.	पद्मावती पूजा मिथ्यात्व ही है।	१) ५०

●

निम्नांकित प्रकाशन भी उपलब्ध हैं :—

१.	जैन निबन्ध रत्नावली (पृष्ठ ५००)	५) रु०
२.	सामायिक पाठादि संग्रह	१) रु०
३.	पंच परमेष्ठी पूजा (बृहद्)	१) रु०
४.	पंच परमेष्ठी पूजा (लघु)	३५ पैसे
५.	चूनड़ी (ज्ञान कुंजी)	७५ पैसे
६.	सावयधम्म दोहा	—



प्राप्ति स्थान :

मिलापचन्द्र रतनलाल कटारिया

केकड़ी (अजमेर-राजस्थान)

KEKRI (AJMER)